CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

डॉ॰ याकूब मसीह

निरीश्वरवाद :

भारतीय एवं पाश्चात्य

बिहार हिंदी ग्रंथ अकादमी
पटना

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

निरीश्वरवाद : भारतीय एवं पाश्चात्य

[Nireeshwarwad : Bharatiya Ewam Paschatya]

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

निरीश्वरवाद : भारतीय एवं पाश्चात्य

डॉ० याकुब मसीह
पी-एच्० डी० (एडिनबरा), डी० लिट्० (पटना)
अध्यक्ष, स्नातकोत्तर दर्शन-विभाग,
मगध-विश्वविद्यालय, बोधगया

ए.सं. 96238

BHARATIYA
VIDYA PRAKASHAN
P. BOX 1108 KACHAURI GALI,
VARANASI-221001
CALL : 65965

बिहार हिंदी ग्रंथ अकादमी
सम्मेलन भवन, पटना—३

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

© बिहार हिंदी ग्रंथ अकादमी, १९७३

विश्वविद्यालय-स्तरीय ग्रंथ-निर्माण योजना के अन्तर्गत भारत सरकार
(शिक्षा तथा समाज कल्याण मंत्रालय) के शत-प्रतिशत
अनुदान से बिहार हिंदी ग्रंथ अकादमी द्वारा प्रकाशित ।

प्रकाशित ग्रंथ संख्या : ५४

प्रथम संस्करण : १९७३
२,०००

मूल्य : १०·४० (दस रुपया चालीस पैसा)

प्रकाशक : निदेशक, बिहार हिंदी ग्रंथ अकादमी, कदमकुआँ, पटना--३
मुद्रक : श्री देवेन्द्रनाथ मिश्र, युगान्तर प्रेस, पटना—४

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

प्रस्तावना

शिक्षा-सम्बन्धी राष्ट्रीय नीति-संकल्प के अनुपालन के रूप में विश्वविद्यालयों में उच्चतम स्तरों तक भारतीय भाषाओं के माध्यम से शिक्षा के लिए पाठ्य-सामग्री सुलभ करने के उद्देश्य से भारत सरकार ने इन भाषाओं में विभिन्न विषयों के मानक ग्रंथों के निर्माण, अनुवाद और प्रकाशन की योजना परि-चालित की है। इस योजना के अन्तर्गत अंग्रेजी और अन्य भाषाओं के प्रामाणिक ग्रंथों का अनुवाद किया जा रहा है तथा मौलिक ग्रंथ भी लिखाए जा रहे हैं: यह कार्य भारत सरकार विभिन्न राज्य सरकारों के माध्यम से तथा अंशतः केन्द्रीय अभिकरण द्वारा करा रही है। हिंदी-भाषी राज्यों में इस योजना के परिचालन के लिए भारत सरकार के शत-प्रतिशत अनुदान से राज्य सरकार द्वारा स्वायत्तशासी निकायों की स्थापना हुई है। बिहार में इस योजना का कार्यान्वयन बिहार हिंदी ग्रंथ अकादमी के तत्त्वावधान में हो रहा है।

योजना के अन्तर्गत प्रकाश्य ग्रंथों में भारत सरकार द्वारा स्वीकृत मानक पारिभाषिक शब्दावली का प्रयोग किया जाता है, ताकि भारत की सभी शैक्षणिक संस्थाओं में समान पारिभाषिक शब्दावली के आधार पर शिक्षा का आयोजन किया जा सके।

प्रस्तुत ग्रंथ "निरीश्वरवाद : भारतीय एवं पाश्चात्य" डॉ० याकुब मसीह की मौलिक कृति है, जो भारत सरकार के शिक्षा तथा समाज कल्याण मन्त्रालय के शत-प्रतिशत अनुदान से बिहार हिंदी ग्रंथ अकादमी द्वारा प्रकाशित की जा रही है। यह ग्रंथ विश्वविद्यालय-स्तर के छात्रों के लिए महत्त्वपूर्ण होगा।

आशा है, अकादमी द्वारा मानक ग्रंथों के प्रकाशन-सम्बन्धी इस प्रयास का सभी क्षेत्रों में स्वागत किया जायगा।

लक्ष्मीनारायण सुधांशु

पटना
दिनांक ९ मई, १९७३

अध्यक्ष
बिहार हिंदी ग्रंथ अकादमी

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

प्रकाशकीय

प्रस्तुत ग्रंथ "निरीश्वरवाद : भारतीय एवं पाश्चात्य" मगध विश्वविद्यालय के दर्शन विभाग के प्रोफेसर तथा अध्यक्ष डॉ० याकुब मसीह जी की मौलिक रचना है। डॉ० मसीह अपने विषय के विद्वान और अनुभवी लेखक हैं। इन्हें अध्ययन-अध्यापन के व्यापक अनुभव के साथ-साथ हिंदी में पाठ्य-ग्रंथों के लेखन का भी सुदीर्घ अनुभव है। अतएव, प्रस्तुत ग्रंथ भी विद्यार्थियों के लिए अत्यन्त ही उपयोगी होगा, इसमें सन्देह नहीं। इसका मुद्रण-कार्य युगान्तर प्रेस, पटना-४ ने किया है। प्रूफ-संशोधन का कार्य श्री रंजन सूरिदेव ने किया है। प्रथम कुछ पृष्ठों को छोड़ कर शेष ग्रंथ में प्रूफ पर मुद्रणादेश लेखक ने स्वयं देने की कृपा की है। ये सभी हमारे धन्यवाद के पात्र हैं।

शिवचन्द्र प्रसाद

पटना
दिनांक ६ मई, १९७३

निदेशक
बिहार हिंदी ग्रंथ अकादमी

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

प्राक्कथन

मैं स्वयं ईश्वरवादी हूँ और मेरी दृष्टि में जिसको भी ईश्वर के प्रति आस्था है, वह उसके जीवन की अनुपम निधि है। परन्तु, आस्था ज्ञान नहीं है। आस्था मनोवैज्ञानिक एवं सांस्कृतिक कारणों पर आधृत होती है और फिर इसका सम्बन्ध वैयक्तिक तथा सामूहिक अचेतन से रहता है। अनुभववाद की ईश्वरविरोधी युक्तियों के सामने ईश्वरवाद टिक नहीं सकता है। तो भी, मैं समझता हूँ कि ईश्वरवाद का सत्यापन ईश्वरवादी के धर्मपरायण, न्यायप्रिय, अनुशासनप्रिय तथा शान्तिपूर्ण जीवन से सिद्ध होता है। ईश्वर की संगति प्राप्त कर चलने में अनेक समस्यायें काफूर हो जाती हैं और कष्ट-वहन की शक्ति का संचार होता है। परन्तु, इस विज्ञान-प्रधान युग में ईश्वरवाद को ग्रहण करना विचारकों के लिये अन्धविश्वास मालूम देता है। वैज्ञानिक विचारधारा ने ईश्वर को विश्व से निर्वासित कर दिया है और जीवन की व्यस्तता और उसकी आवश्यकताओं एवं अभ्यर्थनाओं ने ईश्वर को अनावश्यक सिद्ध कर मानव-हृदय को ईश्वर-शून्य कर दिया है।

वाइबिल की कथा के अनुसार, ईश्वर की आज्ञाओं के उल्लंघन करने के कारण ईश्वर ने आदम और हौवा को अदन के उद्यान से निर्वासित कर दिया। परन्तु, मानव को अदन की वारी से निर्वासित कर देने पर स्वयं ईश्वर अशान्त हो गया। बाइबिल की कथा के अनुसार, वह अभी तक आँखें बिछाये वाट जोहता रहता है, कि पापी व्यक्ति अपने पापों को मानकर ईश्वर से क्षमा-याचना कर फिर से ईश्वर की सन्तान कहलाने के योग्य सिद्ध हो। परन्तु, इस विज्ञान, तकनीकी तथा औद्योगिकीकरण के युग में अदन की वारी विस्मृत हो गयी है, स्वर्ग-प्राप्ति की लिप्सा भी समाप्त हो गयी है। मानव ने ऐहिकतावाद के ज्ञानवृक्ष का फल खा लिया है और अब वह स्वयं ईश्वर-तुल्य अच्छे-बुरे का निर्माता हो गया है। मानव बालिग हो चुका है। नीत्शे का सपना साकार हो गया है। मानव ने ईश्वर को विश्व और अपने हृदय से निर्वासित कर दिया है।

बचपन का स्वप्न भंग हुआ, नींद टूटी, चतना आयी। कटु वास्तविकता आ धमकी। बेचैनी और अशान्ति। जीवन शुष्क और निरुद्देश्यपूर्ण प्रतीत होने लगा है। कारण? अभी तक जीवन का मूल्य ईश्वर-केन्द्रित था।

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

समझा जाता था, कि यह जगत् ईश्वर की रचना है, जिसमें ईश्वर ने मानव को ईश्वर की आज्ञाओं के पालन करने और ईश्वर-तुल्य पवित्र होने के लिये रचा है। परन्तु, ईश्वर के प्रति मनोवैज्ञानिक एवं सांस्कृतिक अनास्था हो जाने से मानव के लिये ईश्वर भ्रम-मात्र है। तब मानव-जीवन का क्या उद्देश्य हो सकता है? ईश्वर की अनुपस्थिति में जीवन का कोई भी न तो उद्देश्य हो सकता है और न मूल्य (द्र० अ० ८)। मानव ऑक्सीजन के सहारे वायुविहीन चन्द्रलोक में वास कर सकता है; स्वर्ग-सुख की भी कामना छोड़कर इस ऐहिक जीवन को सुखी बनाने की बात कर सकता है। परन्तु, मूल्य बिना निरुद्देश्यपूर्ण जीवन को यापन करना दुस्साध्य प्रतीत होता है। यदि प्रयोगशालाओं का कोई मूल्य न हो, यदि समस्त मानव-इतिहास यादृच्छिक हो, यदि मानव के हृदय-भावों की कहानियाँ निरर्थक प्रलाप हों, तो मानव-जीवन का क्या अर्थ हो सकता है? दुःखान्त में भी प्रयोजन गर्भित रहता है, निर्मम हत्या के पीछे भी कोई रहस्य छिपा रहता है। परन्तु, सम्पूर्ण विश्व की निरुद्देश्यपूर्णता मानव-चिन्तक के लिये असह्य प्रतीत होती है।

परन्तु, ईश्वरवाद एकमात्र धर्म नही है। भारत में जैन, बौद्ध तथा शांकर वदान्त में निरीश्वरवादी आध्यात्मिकता है। क्या इस निरीश्वरवादी अध्यात्मवाद से शुष्क जीवन को शान्त किया जा सकता है? हाँ, परन्तु इसे वर्त्तमान-कालिक युग की परीक्षाओं में उत्तीर्ण होना चाहिये। मेरी समझ में भारतीय निरीश्वरवादी आध्यात्मिकता में समकालीन समीचीनता है। यदि मैं इसे सिद्ध करने में असमर्थ हुआ हूँ, तो यह अन्य दार्शनिकों की चुनौती है।

प्रायः, भारतीय दार्शनिक समझते हैं कि यदि वे पाश्चात्य विचारकों के दर्शन का मन्थन करते रहें, तो उससे उन्हें पूर्ण सन्तोष मिलेगा। यह उनके लिये सम्भव है। परन्तु, इससे अन्य पाठकों को क्या लाभ? पाश्चात्य विचारों में झूमनेवाले पाश्चात्य समस्याओं से जूझते हैं, जो भारत की समस्या नहीं है। तो क्या केवल भारतीय दर्शनों का अध्ययन किया जाय? यह अनिवार्य है, परन्तु शास्त्रीय दर्शन हमारे चिन्तन का इतिहास है, न कि जीवित धारा। क्या इस समय कोई सांख्य के प्रकृति-पुरुष की तत्त्वमीमांसा को न्याय-संगत समझता है? या, कितने विश्वविद्यालय के छात्र मोक्ष-ज्ञान प्राप्त करने के लिये आते हैं? परन्तु, कोई भी देश अपने संस्कार और इतिहास को भुला नहीं सकता है। उनसे समकालीन पाठ सीखना चाहिये।

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

मैं विज्ञान को भारतीय विचार और संस्कृति की समकालीन मान्यता मानता हूँ। यदि विज्ञान को जीवन की प्रमुख मान्यता स्वीकार कर लिया जाय, तो इसके परिणामों पर भी ध्यान देना चाहिये। मेरी समझ में विज्ञान को मान्यता देने पर अनुभववादी दर्शन को इसका तार्किक परिणाम समझना चाहिये। फिर, यदि अनुभववाद को स्वीकार कर लिया जाय, तो यह भारतीय चिन्तन और आध्यात्मिक विचारधारा के लिये चुनौती हो जाती है। मैंने इन चुनौतियों का उल्लेख किया है।

इस पुस्तक में अनेक ऐसे निष्कर्ष हैं, जिन्हें सम्भवतः बहुमान्यता न मिले। उदाहरणार्थ, मैंने जैन, बौद्ध तथा औपनिषद परम्परा को अवैदिक माना है, प्रारम्भिक रूप में षड्दर्शनों को निरीश्वरवादी सिद्ध किया है, शांकर वेदान्त में ज्ञानयोग को मोक्षप्राप्ति का एकमात्र साधन समझा है और अन्त में निर्वाण तथा मोक्षगति को मनोवैज्ञानिक स्थिति स्वीकार किया है। मैंने भारतीय निरीश्वरवादी परम्परा को दार्शनिक चिन्तन का, न कि धार्मिक मत-मतान्तर का विषय बनाया है।

मैंने, 'Indian Atheism and Radical Theology' नामक पुस्तक मोतीलाल बनारसीदास को सन् १९७० ई० में छापने के लिये भेजी थी। परन्तु, छपने में विलम्ब देखकर मैंने टंकित लिपि को वापस ले लिया। उसके बाद श्रीदेवीप्रसाद चट्टोपाध्याय-लिखित 'Indian Atheism' पुस्तक देखने को मिली। मैंने, इस पुस्तक से बहुत लाभ उठाया है और अध्याय ७ में इस पुस्तक का प्रभाव स्पष्ट दिखेगा। परन्तु, श्रीदेवीप्रसाद चट्टोपाध्याय द्वन्द्वात्मक भौतिकवादी हैं और मैं अनुभववादी तथा ऐहिकतावादी हूँ। इसलिये, मैं उनकी भौतिकवादी युक्तियों को न्यायसंगत नहीं मानता हूँ। मैंने प्रस्तुत पुस्तक को अपनी टंकित पाण्डुलिपि के आधार पर लिखा है।

मैं, बिहार-हिन्दी-ग्रन्थ-अकादमी के अध्यक्ष सुविख्यात मनीषी डॉ० लक्ष्मीनारायण सुधांशुजी का तथा अकादमी के निदेशक सौजन्यपूर्ण विद्वान् डॉ० शिवनन्दन प्रसाद का आभारी हूँ, जिन्होंने मुझे आश्वासन देकर इस कृति को समाप्त करने की उत्प्रेरणा प्रदान की।

३-११-१९७२ —या० मसीह

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

विषय-सूची

प्राक्कथन :

अध्याय १

विषय-प्रवेश :

धर्म एवं धर्मदर्शन १; धर्मदर्शन तथा दर्शन ६; ईश्वर और ईश्वर-वाद ११; निरीश्वरवाद के विभिन्न अर्थ १३ ।

अध्याय २

हिन्दुत्व के आर्य-अनार्य तथा प्राग्वैदिक-वैदिक तत्त्व :

सिन्धुतट-सभ्यता २३; वैदिक ईश्वरवाद तथा एकत्ववाद ३०; वहुदेवतावाद ३०; ईश्वरवाद ३२; एकत्ववाद ३५ ।

अध्याय ३

भारतीय निरीश्वरवाद की रूपरेखा :

विषय-प्रवेश ३९; षड्दर्शन में निरीश्वरवाद का स्थान ४४; सांख्य-दर्शन ४५; योग-दर्शन ४९; न्यायवैशेषिक-दर्शन ५३; अनीश्वरवादी व्याख्या ५७; पूर्वमीमांसा-दर्शन में निरीश्वरवाद ५८; अद्वैत-वेदान्त ६३ ।

अध्याय ४

निरीश्वरवादी जैन धर्मदर्शन :

भारतीय धर्मदर्शन का स्वरूप ६८; जैनधर्म का सारतत्त्व ७४; तत्त्वविचार ७५; आस्रव और बन्धन ७६; संवर-निर्जरा ७७; मोक्ष-प्राप्ति-मार्ग ७७; गुणस्थान ८१; ध्यानयोग ८४, शुक्लध्यान ८६;

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

पृथक्त्व-वितर्क-वीचार ८६; एकत्व-वितर्क-अवीचार ८६; सूक्ष्म-क्रियाप्रतिपाती ८६; व्युपरतक्रिया-निवर्त्ती अथवा व्यवच्छिन्न प्रति-पाती ८६; ध्यान के प्रकार ८७; जैन निरीश्वरवाद ८८; जैन आध्यात्मिक कथनों की अर्थपूर्णता ९० ।

अध्याय ५

निरीश्वरवादी बौद्ध धर्मदर्शन :

विषय-प्रवेश ९३; निरीश्वरवाद ९५; कर्मवाद ९७; मध्यममार्ग ९७; चत्वारि आर्यसत्यानि १००; दुःख है १००; दुःख का कारण है : द्वादश निदान १०२; अविद्या १०३; संस्कार १०३; विज्ञान, नामरूप १०४; षडायतन १०४; स्पर्श १०४; वेदना १०४; तृष्णा १०४; उपादान १०४; भव १०५; जाति १०५; जरा-मरण १०५; दुःख-निरोध या निर्वाण १०६; दुःख-निरोध-मार्ग ११०; चित्त-निरोध ११३; समाधि ११४; रूपलोक-ध्यान ११५; अरूपलोक-ध्यान (समापत्ति) ११७; ब्रह्मविहार (अपरिमित) ११९, ऋद्धियाँ १२१; प्रज्ञा १२१; बौद्ध कथनों की अर्थपूर्णता १२३ ।

अध्याय ६

शांकर अद्वैतवाद :

विषय-प्रवेश १२८; ब्रह्म का स्वरूप १३३; मुक्तिमार्ग १४३; कर्म-योग अथवा कर्म-मार्ग १४४; भक्ति-योग १४५; भक्ति का स्वरूप १५१; ज्ञानयोग १५५; मोक्ष का स्वरूप १६१; मोक्ष-कथन की अर्थपूर्णता १६४; टिप्पणी १६५; चर्पटपञ्जरिकास्तोत्रम् १६७ ।

अध्याय ७

ईश्वर-विषयक युक्तियों का निरीश्वरवादी खण्डन :

विषय-प्रवेश १७३; न्यायकुसुमांजलि की ईश्वरसमर्थक युक्तियाँ १७७; ईश्वर-विषयक युक्ति की सामान्य व्याख्या १८३; न्याय-प्रयोग रूप में उदयनाचार्य द्वारा ईश्वर-प्रमाण १८८; गुणरत्न द्वारा उदयनाचार्य-कृत ईश्वर-समर्थक तर्क का खण्डन १९६ ।

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

अध्याय ८

समकालीन निरीश्वरवाद :

विषय-प्रवेश २०९; तर्कबुद्धि के आधिपत्य का विकास २१०; विज्ञान का प्रचार एवं प्रसार २१७; विज्ञान-विधि पर आधृत अनुभववाद तथा निरीश्वरवाद २२८; अभिकथन २३३; ईश्वर-सम्बन्धी कथनों की सत्यापनीयता-मिथ्यापनीयता २३६; विज्ञानाश्रित ऐहिकतावाद तथा निरीश्वरवाद २४०।

अध्याय ९

भारतीय निरीश्वरवाद की समकालीन समीचीनता :

समकालीन चुनौती २४७; आध्यात्मिकता २४८; असांसारिकता २५४; समाजवाद की खामियाँ २६१; निष्कर्ष २६५।

अनुक्रमणिका

२६८ से २७२।

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

अध्याय १

विषय-प्रवेश

धर्म एवं धर्मदर्शन : मानव अपने को निस्सहाय और निर्बल पाता है। इस निर्बलता का भाव मानव के आदिकाल में अनुमानतः विशेष मालूम देता होगा; क्योंकि मानव अपने को प्रकृति के प्रकोप से बचाने में असमर्थ था। बाढ़, सूखा, संक्रामक रोग, भूकम्प इत्यादि आपदाओं से वह अपने को बचाने में असमर्थ था। यह ठीक है कि गुट और समाज में रहकर मानव अपने दुःख को बाँटकर अपने भार को हल्का कर लेता था। बाद में ज्ञानवृद्धि के साथ उसने अपने को प्राकृतिक प्रकोपों से बचाने के लिये सामाजिक व्यवस्था के आधार पर अनेक उपायों को भी खोज निकाला। पर, सामाजिक व्यवस्था के कारण यदि मानव प्राकृतिक प्रकोपों से अपने को बचाने के लिए थोड़ा-बहुत समर्थ हुआ, तो स्वयं समाज ही उसके लिये समस्या के रूप में आ धमका। समाज में अधिकांश व्यक्तियों का शोषण और दमन होने लगा। शोषकों को भी अनेक स्थितियों में कुण्ठित हो जाने पर उनमें अपने स्वाभिमान को ठेस लगने तथा आत्मग्लानि के भाव का उदय होने लगा। अतः, मानव में निरन्तर निस्सहायता तथा निर्बलता का भाव बना रहा है। चाहे वह शोषक हो या शोषित, इस भाव को दूर कर वह अपने जीवन में स्थिरता प्राप्त करने की खोज करता रहा है। इसी स्थिरता-प्राप्ति की स्थिति को धार्मिक अनुभव कहा गया है। धर्म की परिभाषा ही दी गयी है : 'धारयति यः असौ 'धर्मः', अर्थात् धर्म वह है, जो मानव को अपने जीवन को धारण (संरक्षण अथवा संचालन) करने में समर्थ करे, अतएव उसे ही 'धर्म' संज्ञा देनी चाहिये। इसी बात को दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है।

मानव के अन्दर सत् और असत् की खींचतान लगी रहती है। जब व्यक्ति अपने अन्दर आत्मभाव, नैतिक पर्याप्तता तथा सामाजिक अभियोजन-कार्य के प्रति सफलता का भाव अनुभूत करता है, तब इस स्थिति को सत् की

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

अवस्था कही जा सकती है। ठीक इसके विपरीत, जब व्यक्ति में प्राणभय, आत्महनन, अनस्तित्व का भाव, आत्मग्लनि तथा समाज में पदच्युति का भाव होता है, तब इस स्थिति को असत् कहा जा सकता है। मानव इसी सत् और असत् के पेंगों में दोलायमान (झूलता) रहता है। आदिकाल में मानव देवी-देवता तथा ईश्वर के प्रति आस्था प्राप्त कर अपने जीवन में सत् का भान कर अपने को स्थिर पाता था और अब भी अनेक मानव के लिये ईश्वर में आस्था उनके जीवन के लिये अनुपम निधि है। परन्तु, स्वीकारना होगा कि भारतीय धर्मदर्शन में सत् की प्राप्ति केवल ईश्वर-प्रणिधान के ही आधार पर नहीं, वरन् योग, समाधि तथा ध्यान के द्वारा भी अनुभूत की जाती थी। इस समाधिमूलक धर्म में ईश्वर को स्थान नहीं दिया गया है और इसलिये समाधिमूलक धर्म को निरीश्वरवादी कहा जा सकता हैं। भारतीय निरीश्वरवाद कतई भौतिकवाद नहीं है। भारतीय निरीश्वरवाद आध्यात्मिक भी है, अर्थात् इसके अनुसार पारलौकिक परम गति और ऐहिक जीवन मानव का परम लक्ष्य और उसकी अन्तिम गति नहीं है। भारतीय निरीश्वरवाद तीन प्रकार का देखा जाता है :

१. हीनयानी निरीश्वरवाद तत्त्वमीमांसा-विरोधी है; क्योंकि इसके अनुसार न आत्मा और न कोई भी तत्त्व नित्य और शाश्वत है। फिर, इसके अनुसार किसी भी परम तत्त्व का विषय-चिन्तन करना वृथा है।
२. जैन निरीश्वरवाद तत्वमीमांसापोषी है; क्योंकि इसके अनुसार प्रत्येक जीव में निहित उसकी नित्य आत्मा है, जिसका गुण शुद्ध चैतन्य है।
३. शांकर निरीश्वरवाद तत्वमीमांसात्मक है; क्योंकि इसके अनुसार निर्गुण ब्रह्म ही परम तत्त्व है। शांकर अद्वैतवाद को इसलिये निरीश्वरवाद कहा जाता है कि इसमें ईश्वर के स्थान को गौण और ईश्वर की आराधना को ब्रह्मप्राप्ति का सहायक एवं साधन-मात्र माना जाता है।

जब कहा जाता है कि भारतीय निरीश्वरवाद आध्यात्मिक है, तब यहाँ स्वीकार किया जाता है कि यह परम्परागत धर्म के अन्तर्गत गिना जायगा। परन्तु, यदि निरीश्वरवाद आध्यात्मिक न होकर ऐहिकतावादी (Secularist)

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

हो जाय, तो क्या इसे भी धर्मदर्शन के अन्तर्गत गिना जा सकता है? ऊपर से देखने पर ऐहिकतावादी निरीश्वरवाद को धर्म या धर्मदर्शन की संज्ञा देना सही नहीं मालूम देता है। परन्तु, पाश्चात्य निरीश्वरवादी अपने को ईसाई कहते हैं और इस हैसियत से वे अपने निरीश्वरवाद को 'धर्म' संज्ञा देते हैं। यहाँ विचारकों को 'धर्म' के अर्थ को स्थिर करना चाहिये।

(क) व्यापक अर्थ में उसी प्रक्रिया को 'धर्म' संज्ञा देनी चाहिये, जिसमें व्यक्ति का सम्पूर्णत्व सन्निहित हो। चूंकि इस अतिव्यापक अर्थ में समाजवाद, साम्यवाद तथा ऐहिकतावाद को भी 'धर्म' कहना चाहिये, इसलिए पाश्चात्य विचारक धर्म की परिभाषा को इतना व्यापक नहीं बनाना चाहते हैं। पाश्चात्य विचारकों के अनुसार समाजवाद तथा साम्यवाद में धर्मों का विरोध किया जाता है। ऐसी स्थिति में धर्मविरोधी समाजवाद को 'धर्म' संज्ञा देना अनुचित मालूम देता है। परन्तु, पाश्चात्य विचारकों की यह आपत्ति निर्मूल है। समाजवाद में ईश्वरवादी धर्म का विरोध किया गया है। परन्तु, धर्म को ईश्वरवाद समझना सही नहीं है। जैन और बौद्ध धर्म में (विशेषतया हीनयानी सम्प्रदाय में) ईश्वर को अस्वीकारा जाता है, तो भी इन्हें 'धर्म' कहा जायगा; क्योंकि इन धर्मों में पारलौकिक अध्यात्मवाद छिपा हुआ है। परन्तु, यदि पारलौकिक स्थिति को नहीं स्वीकार किया जाय, तो क्या तब भी धर्म किसी-न-किसी रूप में संरक्षित रह जाता है? मेरी समझ में यह परिभाषा पर निर्भर करता है और साथ-ही-साथ कुछ मान्यता पर भी। मेरी यह मान्यता है कि मानव के अन्दर सम्पूर्णत्व होने की आकांक्षा जन्मजात है और इसलिये मानव अपने को सम्पूर्ण करने, अपने को धारण रखने में जिस प्रक्रिया की सहायता ले, उसे 'धर्म' संज्ञा देनी चाहिये। अतः, मैं ऐहिकतावादी निरीश्वरवाद, समाजवाद, साम्यवाद को भी 'धर्म' संज्ञा देने को तैयार हूँ। मेरी समझ में मानव बिना किसी-न-किसी धर्म के नहीं रह सकता है। किसी भी आदर्श के प्रति सम्पूर्ण आत्मनिवेदन तथा आत्मसमर्पण अथवा आत्मग्रसन को धर्म की संज्ञा दी जा सकती है। इस रूप में धर्म को मानव के लिये पूर्वानुभविक मान्यता कहा जाता है। इस स्थल पर जर्मन देश के प्रसिद्ध विचारक बॉनहोयफर की उक्ति याद दिलायी जाती है। बॉनहोयफर ने कहा है कि मानव अब पूर्णतया वयस्क हो गया है

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

और अब उसे ईश्वर की आवश्यकता नहीं है। मानव अब बिना किसी धर्म के रह सकता है।

(ख) यह ठीक है कि बॉनहोयफर ने बताया है कि यह कहना ठीक नहीं है कि मानव बिना धर्म के नहीं रह सकता है। परन्तु, 'धर्म' का अर्थ बॉनहोयफर के लिये संकीर्ण अर्थ में था। अन्य पाश्चात्य धर्मविचारकों के साथ बॉनहोयफर ईश्वरवाद को ही 'धर्म' संज्ञा देते थे। चूँकि ईश्वर में आस्था के विलयन को उन्होंने स्वीकार किया है, इसलिये वे निरीश्वरवाद को 'धर्म' नहीं मानते हैं। परन्तु, केवल संकीर्ण अर्थ में धर्म को ईश्वरवाद के समतुल्य समझा जा सकता है। जैन और हीनयानी बौद्ध मतों को निरीश्वरवादी रहने पर भी धर्म ही माना गया है। पर क्या पारलौकिकता को अस्वीकार करने पर भी किसी भी मानव-प्रक्रिया को 'धर्म' कहा जा सकता है? मेरी समझ में व्यापक अर्थ में ऐहिकतावादी निरीश्वरवाद को भी धर्म कहा जा सकता है, यदि इस प्रकार का व्यक्ति ऐहिक जीवन को अपना आदर्श मानकर अपने जीवन को इसके सुधार तथा उत्थान के लिये उत्सर्ग कर दे। इसका मुख्य कारण है कि हमलोगों ने धर्म को मानव को धारण रखने की प्रक्रिया में सन्निहित किया है और पाश्चात्य देशों में ऐहिकतावादी समाजवादी तथा निरीश्वरवादी अपने को समाज के उत्थान-कार्य में आत्मनिवेदित कर देते हैं और इस प्रकार सर्वसुखाय एवं सर्वहिताय के आदर्श के आधार पर अपने जीवन को मूल्यपूर्ण, अर्थपूर्ण तथा स्थिर करते हैं। इसलिये, धर्म के इस व्यापक रूप में ऐहिकतावादी निरीश्वरवाद को भी 'धर्म' संज्ञा दी जा सकती है।

इस स्थिति में एक प्रश्न पूछा जा सकता है, 'क्या ऐहिकतावादी निरीश्वरवाद धर्म है या धर्मदर्शन?' धार्मिक व्यवहार को ही साधारणतया 'धर्म' कहा जाता है। उदाहरणार्थ, ईश्वर की स्तुति करना, प्रार्थना, जप-तप तथा समाधि आदि को 'धर्म' कहा जा सकता है। इन धार्मिक अनुष्ठानों में अन्तर्निहित विश्वास तथा तात्त्विक सिद्धान्त को धर्मदर्शन कहा जा सकता है। उदाहरणार्थ, शुद्ध धर्म के तल से ईश्वरवादी ईश्वर के साथ सायुज्य स्थापित करता है, ईश्वर से सम्भाषण करता है, ईश्वर से अपने पापों की क्षमा-याचना करता है इत्यादि। धार्मिक स्तर पर भक्त के लिए ईश्वर वास्तविक सत्ता मालूम देता है,

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

वरन् ईश्वर की तुलना में अन्य सभी वस्तुयें अवास्तविक प्रतीत होती हैं। परन्तु, धर्मदर्शन के स्तर पर ईश्वरवादी ईश्वर का विषय-चिन्तन करके तत्सम्बन्धी प्रत्यय का स्पष्टीकरण करता है, उसके अस्तित्व के विषय में युक्तियाँ प्रस्तुत करता है, ईश्वर के गुणों की व्याख्या करता है इत्यादि। अतः, धार्मिक व्यवहार में आत्मसंलग्नता, आत्मग्रसन अथा अन्तर्लिप्तता देखी जाती है, और इसकी तुलना में धर्मदर्शन में अपेक्षाकृत तटस्थता देखी जाती है। धर्मदर्शन में धार्मिक व्यवहार में अन्तर्निहित सिद्धान्त को स्पष्ट किया जाता है, ताकि धार्मिक संगोष्ठी तथा सम्भाषण सम्भव हो सके। अतः, धर्म आत्मनिष्ठ प्रक्रिया है; परन्तु धर्मदर्शन अतिवैयक्तिक विचार है। परन्तु, धर्म और धर्मदर्शन के भेद को लक्ष्मणरेखा नहीं मानना चाहिये।

धर्म में धर्मदर्शन गर्भित रूप में रहता है और धर्मदर्शन में भी धर्म के प्रति आस्था रहती है; क्योंकि बिना धर्मों के प्रति आस्था के धर्मों में निहित सिद्धान्त को व्यक्त नहीं किया जा सकता है। यह ठीक है कि धर्मों के प्रति संलग्नता के रहते हुए भी धर्मदर्शन में तटस्थता बरतनी चाहिये। अतः, किसी भी धर्मदर्शन को समझने के लिये धर्म में अन्तर्लीनता चाहिए और फिर धर्म में निहित विचारों को व्यक्त करने के लिए तटस्थता अपनानी चाहिए। ये दोनों बातें परस्पर-विरोधी मालूम देती हैं, अर्थात् संलग्नता और तटस्थता। परन्तु, जीवन को ही विरोधाभासी पक्षों के बीच दोलन कहा जा सकता है और यही बात धर्मदर्शन में निहित संलग्नता-तटस्थता, आत्मनिष्ठता-अतिवैयक्तिकता की कसाकसी में पायी जाती है और धर्मदार्शनिक के लिये आवश्यक हो जाता है कि वह इन परस्परविरोधी पक्षों के तनाव में समतोल को बनाये रखे। धर्मदर्शन में व्यक्त किये गये सिद्धान्त को धार्मिक व्यवहार से समर्थित करते रहना चाहिये और धार्मिक अनुभूति को तटस्थ एवं व्यापक सिद्धान्त के आधार पर आत्मनिष्ठता के स्तर से उठकर इसे व्यापक रूप देना चाहिये। अब प्रश्न होता है कि धर्मदर्शन में किस प्रकार से तटस्थता को अपनाकर धर्म में निहित सिद्धान्त को व्यापक रूप दिया जाता है। धर्म-दर्शन की तटस्थता तथा सिद्धान्तों की व्यापकता दर्शन से प्राप्त होती है। अतः, धर्मदर्शन और दर्शन के आपसी संबंध पर थोड़ा प्रकाश डालना अपेक्षित है।

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

धर्मदर्शन तथा दर्शन : दर्शन का सम्बन्ध जीवन के साथ रहता है और दर्शन जीवन के मार्ग-दर्शन के लिए विश्वचित्रण किया करता है। चूंकि प्रत्येक युग का विश्वचित्रण मानव-अनुभूति का आयाम और उसके बौद्धिक क्षितिज को व्यापक बनाता जाता है, इसलिये विश्वचित्रण नवीन अनुभूतियों के साथ बदलता रहता है। उदाहरणार्थ, ईसाई धर्म ने यूरोपीय विचार में नैतिकता, संघीय सहयोग तथा पाशविक वृत्तियों के शिक्षण में सहायता दी। परन्तु, नैतिकता के विकास के साथ व्यष्टि का उदय हुआ और बौद्धिक स्वतन्त्रता का प्रादुर्भाव हुआ। इसी बौद्धिक स्वतन्त्रता के प्रचार एवं प्रसार से अन्त में विज्ञान की स्थापना हुई। विज्ञान की विधि तथा उसके निष्कर्ष ने दार्शनिक चित्रण को एक नया रूप दे दिया। गैलेलियो तथा न्यूटन ने देकार्त्त के यन्त्रवाद को साकार किया है और इसी यन्त्रवाद ने डार्विन के जैविक विकासवाद को स्थापित किया। पुनः इसी यान्त्रिक विकासवाद के आधार पर तकनीकी तथा औद्योगीकरण का विकास हुआ। अन्त में, तकनीकी तथा औद्योगीकरण के आधार पर ऐहिकता का विकास हुआ है। अब प्रत्येक अनुभूति की गहराई के साथ युगदर्शन बदलता गया और फिर प्रत्येक संशोधित युगदर्शन ने नवीन अनुभूतियों को जन्म दिया। अतः, दर्शन के द्वारा प्रस्तुत विश्वचित्रण परिवर्त्तनशील होता रहा है। इस समय भारत में जातिभेद, साम्प्रदायिक भेद, आर्थिक विषमता, अन्धविश्वास इत्यादि जीवन की वे समस्यायें हैं, जिनका बिना समाधान किये राष्ट्रीय विकास नहीं हो सकता है। हमें मानव का ही ऐसा चित्रण करना है कि इस चित्रण के द्वारा सभी प्रकार की विषमता तथा भेदभाव को दूर किया जाय तथा इस चित्रण के आधार पर ऐसी राजनीतिक तथा आर्थिक व्यवस्था बनायी जाय कि बहुजनहिताय एवं बहुजनसुखाय का सिद्धान्त चरितार्थ हो। उदाहरणार्थ, ऐहिकतावादी समाजवाद मानव का ऐसा चित्रण करता है कि इसके आधार पर शोषणहीन तथा वर्गविहीन समाज की स्थापना की जा सकती है। परन्तु, यहाँ एक आपत्ति उठायी जाती है, जो भारतीय दार्शनिकों के लिये एक महत्त्वपूर्ण चुनौती है।

परम्परागत दर्शन के अनुसार यह बात कही जा रही है कि दर्शन का काम है कि वह विश्वचित्रण करे अथवा मानव के आदर्श स्वरूप की रूपरेखा

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

प्रस्तुत करे। समकालीन युगदर्शन के अनुसार कहा जाता है कि यह दर्शन का काम ही नहीं है कि वह विश्वचित्रण करे तथा वर्त्तमानकालिक समस्याओं से अपना सम्बन्ध रखे। इस विश्लेषणवादी परम्परा के अनुसार सामाजिक तथा राष्ट्रीय समस्याओं के समाधान करने का काम राजनीति, अर्थशास्त्र तथा अन्य प्रकार के समाजिक अध्ययनों का है। इस दार्शनिक धारा के अनुसार नियमों की स्थापना करना विज्ञान का काम है, न कि दर्शन का। चूँकि दर्शन विज्ञान नहीं है, इसीलिये दर्शन किसी भी प्रकार का विज्ञान नहीं दे सकता है और न यह परम सत्ता या ईश्वर का ज्ञान दे सकता है। तब दर्शन का क्या काम रह जाता है ? भाषा-विश्लेषण तथा विभिन्न क्षेत्रों में प्रयुक्त प्रत्ययों का अर्थ-स्पष्टीकरण। दर्शन के इस नये काम को समझने की आवश्यकता है।

भाषा विभिन्न प्रकार की होती है। वह भाषा, जो हमारी अनुभूति को तथ्यानुरूप व्यक्त करे, उसे प्रथमस्तरीय भाषा कहा जा सकता है। परन्तु, उस प्रथमस्तरीय भाषा का भी अध्ययन कर द्वितीय स्तरीय भाषा की रचना की जाती है। जिस प्रकार प्रथम स्तरीय भाषा द्वितीयस्तरीय भाषा का विषय होती है, उसी प्रकार तृतीय स्तरीय भाषा का विषय द्वितीयस्तरीय भाषा होती है। उदाहरणार्थ, हम अपने सामने सफेद कागज देखते हैं और कहते हैं :

"यह कागज सफेद है।"....(१)

फिर हम 'यह', 'सफेद' इत्यादि प्रयुक्त प्रत्ययों का भी अध्ययन करते हैं। उदाहरणार्थ,

'यह' निदर्शात्मक प्रत्यय है।
'सफेद' गुणवाची प्रत्यय है। } ....(२)

तृतीय स्तर का भी कथन निम्नांकित रूप से बताया जा सकता है :

यह का अध्ययन दो प्रकार से हो सकता है। यह को या तो वस्तुनिर्देश के लिए काम में लाया जा सकता है, या यह शब्द पर विचार किया जा सकता है। जब हम यह शब्द पर विचार करते हैं, तब इसे उद्धरण-चिह्न में लिखा जाता है। जैसे :

यह टेबुल, यह कुर्सी इत्यादि।
'यह' दो अक्षरों से बना है। } ....(३)

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

यदि भाषा के इस स्तर-सिद्धान्त पर ध्यान दिया जाय, तो स्पष्ट हो जाता है कि वे सभी कथन, जिनमें साक्षात् अनुभूति को व्यक्त किया जाता है, वे प्रथमस्तरीय भाषा में होते हैं। उदाहरणार्थ, धार्मिक व्यक्ति आपस में अपनी धर्मभाषा में सम्भाषण करते हैं। ईसाई ईश्वर, ईसा, मण्डली, प्रेम-व्यवहार, कुँवारी मरियम, ईश्वर का ईसा में अवतार इत्यादि शब्दों को व्यवहार करता है। ईसाई अपने धार्मिक अनुष्ठान में न तो ईश्वर, ईश्वर के पुत्र ईसा, अवतार, कुँवारी से जन्म लेने इत्यादि पर विचार करता है और न ईश्वर के अस्तित्व पर चिन्तन करता है। ईसाई के लिए कुँवारी से जन्म लेना, ईश्वर से प्रार्थना करना इत्यादि वास्तविक बातें हैं। परन्तु, धर्मदर्शन में चाहे वह ईसाई हो या न हो, उसे ईसाई-धर्मभाषा पर विचार करना पड़ता है और उसे निर्धारित करना पड़ता है कि ईसाई किस प्रकार की सत्ता को 'ईश्वर' कहता है, वह कुँवारी को किस रूप में बिना व्याघात के माता कहता है इत्यादि। धर्मदर्शन में धर्मभाषा के सम्बन्ध में ही उच्चस्तरीय भाषा का प्रयोग किया जाता है। इसी प्रकार, दार्शनिक धर्मदर्शन की भाषा को अपना विषय बनाता है। अतः, दर्शन की भाषा तृतीयस्तरीय भाषा है। यही बात विज्ञान और दैनिक ज्ञान के विषय में कही जाती है।

वैज्ञानिक अपनी पद्धति के अनुसार अपने क्षेत्रविशेष का गणितीय भाषा में यन्त्रों के द्वारा प्राप्त सामग्रियों का अध्ययन करता तथा तद्विषयक नियमों की स्थापना करता है। भौतिकी की भाषा भौतिकी के वैज्ञानिक अच्छी तरह समझते हैं। परन्तु, भौतिकीशास्त्री अपनी प्रयुक्त भाषा पर नहीं विचार करता है। उसका साक्षात् विषय शब्द, प्रकाश, ताप इत्यादि होता है। परन्तु कुछ वैज्ञानिक हैं, जो अपने विषय के अनुसन्धान और भाषा, विधि इत्यादि का अध्ययन करने लगते हैं। उदाहरणार्थ, कार्नप, न्यूरथ, श्लिक, ब्रिजमैन इत्यादि वैज्ञानिकों ने वैज्ञानिक भाषा, विधि इत्यादि का अध्ययन किया है। कार्नप और श्लिक भौतिकीशास्त्री थे, परन्तु जब वे प्रयोगशाला को छोड़कर प्रयोगविधि पर ही चिन्तन करने लगे, तब वे वैज्ञानिक न होकर दार्शनिक कहलाये। यहाँ भी दार्शनिक का सम्बन्ध साक्षात् प्रदत्तों तथा प्रयोगशाला में प्राप्त सामग्रियों से नहीं रहता है। यहाँ उनकी भाषा द्वितीय-स्तरीय भाषा हो जाती है।

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

यही बात दैनिक जीवन की भाषा में भी लागू होती है। व्यावहारिक जीवन में हम कहते हैं : 'मैं टेबुल का प्रत्यक्ष कर रहा हूँ। मुझे कल की बात याद आ रही है' इत्यादि।

दैनिक जीवन में हमें इसकी आवश्यकता नहीं होती है कि 'प्रत्यक्ष', 'याद करने', इत्यादि प्रक्रियाओं के विषय का चिन्तन करें। व्यावहारिक जीवन के लिए टेबुल, कुर्सी, मोटर, भूतकाल की घटना इत्यादि हमारे साक्षात् विषय होते हैं। परन्तु मूर, प्राईस तथा अनेक अनुभववादियों ने अपने जीवन-भर प्रश्न किया है : 'प्रत्यक्ष' किसे कहते हैं ? क्या बिना इन्द्रियानुभव के भी प्रत्यक्ष सम्भव हो सकता है ? क्या प्रत्यक्ष में कोई आधारभूत सरल तत्त्व है, जिसे निर्भ्रान्त संज्ञा दी जा सकती है ? ये सब प्रश्न दैनिक वस्तुओं के विषय में नहीं हैं। ये सब प्रश्न व्यावहारिक भाषा के विषय में द्वितीयस्तरीय कथन हैं।

अतः, यह बात स्पष्ट हो जाती है कि दार्शनिक का सम्बन्ध साक्षात् अनुभव, प्रदत्त तथा सामग्रियों से नहीं रहता है। फिर अनुभव, प्रदत्त इत्यादि के सम्बन्ध में भाषा-प्रयोग करना पड़ता है। टेबुल देखकर, छूकर, उठाकर हम कहते हैं : 'यह ठोस लकड़ी की बनी मेज है।' परन्तु, यह भाषा प्रथमस्तरीय है। जबतक इस भाषा को ही हम अपना विषय नहीं बनायें, हम दार्शनिक चिन्तन नहीं कर सकते हैं। यही कारण है कि कहा जाता है कि दर्शन का उद्देश्य है कि वह भाषा-विश्लेषण करे, अनेक विभागों में व्यवहृत प्रत्ययों के अर्थ का स्पष्टीकरण करे इत्यादि। तब क्या दर्शन का सम्बन्ध जीवन की अनुभूतियों से साक्षात् रूप में नहीं रहता है ?

यह ठीक है कि जब दार्शनिक अपने कमरे में बैठकर 'प्रत्यय' का विश्लेषण करता है, तब यहाँ यह नहीं कहा जायगा कि वह किसी वस्तुविशेष का प्रत्यक्ष कर रहा है। वह चिन्तन करता है कि जब हम कहते हैं कि हम टेबुल, कुर्सी, संगीत इत्यादि का प्रत्यक्ष कर रहे हैं, तब इस 'प्रत्यक्ष करने' का क्या अर्थ लगाया जा सकता है ? क्या कोरे दर्शन-संवेदन को प्रत्यक्ष कहा जाय ? अन्य इन्द्रियों से प्राप्त भूत अनुभूतियों की आधारभूमि को भी प्रत्यक्ष कहा जाय ? क्या भ्रमपूर्ण टेबुल के दिखने को भी प्रत्यक्ष कहा जाय ? इत्यादि। अतः, स्वीकारना होगा कि दर्शन का सम्बन्ध वस्तुविशेष तथा किसी अनुभूति-

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

विशेष से नहीं है। तो भी मेरी समझ में दर्शन का सम्बन्ध असाक्षात् रूप से अनुभूति के साथ रहता है। इसकी व्याख्या करना अनिवार्य प्रतीत होता है।

अनुभूति और भाषा का अवियोज्य सम्बन्ध होता है। अकथनीय अथवा मूक अनुभूति किसी भी संगोष्ठी का विषय नहीं होती है। यही नहीं, अनुभूति प्रचलित भाषा से प्रभावित होती है। प्रचलित भाषा के द्वारा हमारी अनुभूति अपनी लीक पकड़ लेती और उसी रूप में निखरती है। फिर, अनुभूति भी भाषा द्वारा संचालित होकर तीव्र तथा गहरी होती जाती है। दूसरे रूप में आरम्भ में अनुभूतिविषयक भाषा अनिश्चित होती है और क्रमशः भाषा में परिष्कार तथा तीक्ष्णता आती है। अतः, प्रगति-विकास को अनिश्चित भाषा से परिष्कृत भाषा की ओर बताया जा सकता है और इसी प्रकार कहा जा सकता है कि प्रगति की दिशा अविभेदित अनुभूति से विश्लिष्ट अनुभूति की ओर दिखाई देती है। इसलिये भाषा अनुभूतिविषयक होती और अनुभूति भाषाधृत होती है। अतः, प्रथमस्तरीय भाषा भी अनुभूति-मूलक होती है। पर, क्या द्वितीयस्तरीय भाषा अनुभूतिपरक नहीं होती? मेरी समझ में द्वितीयस्तरीय भाषा में भी परिमार्जित एवं सूक्ष्म अनुभूति रहती है। उदाहरणार्थ, धर्मभाषा में विस्मय, आह्लाद, आश्चर्य, रहस्यमय महान् (Tremendons mystery) आदि का भान होता है। परन्तु क्या कार्ल बार्थ, शंकर, रामानुज, पॉल तीलिख् तथा विवेकानन्द को धार्मिक अनुभूति नहीं प्राप्त थी? धर्मदर्शन की भाषा धर्मभाषा का परिष्कृत रूप है और दर्शन धर्मदर्शन की परिष्कृत भाषा है। चूँकि भाषा बिना अनुभूति के सम्भव नहीं होती, इसलिए दर्शन में भी सूक्ष्म एवं व्यापक अनुभूति रहती है। कम-से-कम यह बात तुलनात्मक धर्मदर्शन में देखी जाती है। अतः, दार्शनिक विश्लेषण से धर्मदर्शन में सूक्ष्मता आती और धर्मदर्शन की सूक्ष्मता से धर्मभाषा का परिष्कार होता है और धार्मिक अनुभूति में व्यापकता तथा गहनता आती है। यही कारण है कि दार्शनिक विश्लेपण के द्वारा पाश्चात्य धर्मदर्शन में निरीश्वरवाद की स्थापना हुई और इसी निरीश्वरवादी धर्मदर्शन के द्वारा व्यक्तियों में ऐहिकता, समाज-सेवा की पवित्रता, वसुधैव कुटुम्बकम् इत्यादि का धर्मभाव व्यापक रूप धारण करता जा रहा है। अतः, मेरी दृष्टि के अनुसार, दर्शन तथा धर्मदर्शन से मानव-अनुभूति में सूक्ष्मता तथा व्यापकता का विकास

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

होना अनिवार्य है फिर, धर्मदर्शन को भी वर्त्तमान जीवन की समस्याओं से तथा आधुनिक मान्यताओं से पराङ्मुख नहीं होना चाहिए। अतः, मेरी दृष्टि में धर्मदर्शन तथा भारतीय जीवन की समस्याओं के बीच घनिष्ठ सम्बन्ध रहना चाहिए।

ईश्वर और ईश्वरवाद : हमें निरीश्वरवाद की व्याख्या करनी है। निरीश्वरवाद में ईश्वरवाद का खण्डन किया जाता है। इसलिये अतिसंक्षेप में हमें उस ईश्वर के स्वरूप की व्याख्या करनी चाहिये, जो ईश्वरवाद में निहित है।

'ईश्वर' उस परम सत्ता का बोध कराता है, जिसमें व्यक्तित्वपूर्णता पायी जाती है, अर्थात् जिसमें विचार, स्मृति, कल्पना तथा आदर्श की चेतनमय एकता पायी जाती है। जैसे, हम मानव में व्यक्तित्वपूर्णता है; क्योंकि साधारणतया हम बाल्यकाल से अबतक की घटनाओं को स्मरण करते और अपने जीवन में कुछ आदर्शों के आधार पर अपनी समस्त घटनाओं का एकीकरण करके आत्मभाव का अनुभव करते हैं। प्रायः बाल्यकाल से प्रौढावस्था तक हम अपने को एक ही प्रकार का व्यक्ति समझते हैं। इसी प्रकार, समझा जाता है कि ईश्वर भी अनन्तकाल से अबतक एक-सा बना रहता है और वह सभी मानव को एकरूप समझता आया है। फिर, ईश्वर में सभी उदात्त गुण पाये जाते हैं। ईश्वर को सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान्, सृष्टिकर्त्ता, पालक, संहारक, परम दयालु इत्यादि माना जाता है। भक्तप्रवर रामानुज ने देहरूप में ईश्वर में ज्ञान, बल, ऐश्वर्य, वीर्य, शक्ति तथा तेज के 'षाड्गुण्य-विग्रह' की संज्ञा दी है। पाश्चात्य ईश्वरवादी मानते हैं कि ईश्वर परम सत्ता है और चूँकि मानव को अपने ईश्वर को सम्पूर्णतया आत्मसमर्पित करना होता है, इसलिये ईश्वर को भी सर्वोपरि सत्ता होना चाहिये, अर्थात् वह सत्ता, जिससे उच्चतर कोई अन्य सत्ता न हो। यदि ईश्वर से बढ़कर भी कोई अन्य सत्ता हो, तो मानव उसी सत्ता को अपना सर्वस्व न्योछावर करेगा, न कि ईश्वर को। इस रूप में पाश्चात्य ईश्वरवादी ईश्वर को सर्वोच्च परम सत्ता मानते हैं और साथ-ही-साथ ईश्वर से निम्नतर सत्ता की पूजा को 'मूर्त्तिपूजा' कहते हैं। मूर्त्तिपूजा को पूजा-दोष कहा जाता है और इस अर्थ में निम्नतर कोटि के देवी-देवताओं को भी अपूज्य माना गया है। देवी-देवता, सन्त-मुनि इत्यादि के प्रति श्रद्धा होनी चाहिये, न कि उनकी पूजा के प्रति।

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

भारतीय ईश्वरवाद में देवी-देवताओं की पूजा को पूजा-दोष नहीं माना जाता है। परन्तु, यहाँ बताया जाता है कि निम्नतर स्तर के देवी-देवताओं की पूजा करके धीरे-धीरे हम उच्चतम ईश्वर की पूजा के अधिकारी हो सकते हैं। द्वितीय, सभी देवी-देवता अन्तिम रूप में एक ही परम ईश्वर के प्रतीक हैं, जो सीमित रूप में उस एक परम सत्ता का प्रदर्शन कराते हैं। परन्तु, यदि कोई देवी-देवताओं की पूजा के स्तर से ऊपर नहीं उठ पाये, तो यह कहा गया है कि उसकी पूजा निम्नकोटि की पूजा होगी, न कि दुष्टात्मा की पूजा।

भारतीय धर्मदर्शन में सभी प्रकार की पूजा को आदर की दृष्टि से देखा गया है। इसलिये, इसमें धर्म-असहिष्णुता सिद्धान्ततः नहीं पायी जाती है। परन्तु, देवी-देवताओं की पूजा को सापेक्ष माना गया है। केवल एक परमात्मा, परमेश्वर की पूजा को ही निरपेक्ष कहा जाता है। इस देवी-देवताओं की पूजा को सापेक्ष मानकर इसलिये स्वीकार किया गया है कि सभी देवी-देवताओं को एक परम सत्ता का सीमित रूप माना गया है। अतः, भारतीय धर्मदर्शन में ईश्वरवाद में सर्वेश्वरवाद की छाया देखी जाती है, ईश्वर को सभी वस्तुओं और घटनाओं में अन्तर्व्याप्त स्वीकार किया है। इसके विपरीत, पाश्चात्य ईश्वरवाद में विशेषकर ईश्वर को विश्व से परे, स्वतन्त्र तथा अतीत (Transcendent) माना गया है। इस अतीत-सिद्धान्त के अनुसार भक्त ईश्वर के बहुत सन्निकट पहुँच सकता है। परन्तु, भक्त कितना ही अधिक ईश्वर के समीप क्यों न पहुँच जाय, वह ईश्वर के साथ तादात्म्य नहीं स्थापित कर सकता है। भक्त और भगवान् के बीच अन्तर रहना अनिवार्य स्वीकार किया गया है।

चूँकि पाश्चात्य और भारतीय ईश्वरवाद में अन्तर है, इसलिये इनमें अनीश्वरवाद भी भिन्न-भिन्न रूप में पाया जाता है। चूँकि भारतीय अन्तर्वत्तिता (Immanence) पर विशेष बल दिया गया है, इसलिये निरपेक्ष सत्ता की स्थिति की प्राप्ति को जीवन का चरम उद्देश्य समझा गया है। फिर, चूँकि तर्कसंगत रूप में निरपेक्ष सत्ता को वैयक्तिक अथवा व्यक्तित्वपूर्ण नहीं माना जा सकता है, इसलिये सर्वेश्वरवादी परम्परा के अनुकूल आत्मसंवर्धन (Culture of the soul) के सिद्धान्त को ही तार्किक रूप में चरम उद्देश्य स्वीकार किया जा सकता है। यही कारण है कि आत्मसंवर्धन अथवा आध्यात्मिकता के सिद्धान्त को ध्यान में रखकर या तो

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

ईश्वर की पूजा को निर्गुण-प्राप्ति (अथवा आत्मप्राप्ति) के लिये साधन माना गया है (शांकर अद्वैतवाद) अथवा अनावश्यक कहा गया है (जैन और हीनयानी मत)। इन बातों को ध्यान में रखकर निरीश्वरवाद के विभिन्न अर्थ को स्पष्ट किया जायगा।

निरीश्वरवाद के विभिन्न अर्थ :

१. दार्शनिक निरीश्वरवाद अथवा तत्त्वमीमांसात्मक अनीश्वरवाद वह है, जिसके अनुसार कोई परम सत्ता नहीं है, जिसकी पूजा या आराधना की जा सकती है। भारतीय दर्शन में चार्वाक, जैन तथा मीमांसकों के निष्कर्ष को तत्त्वमीमांसात्मक निरीश्वरवाद कहा जा सकता है। यही बात १८वीं-१९वीं शताब्दी के पाश्चात्य विचारकों के लिये भी कही जा सकती है। परन्तु, दार्शनिक निरीश्वरवाद को शुद्ध निरीश्वरवाद नहीं कहा जा सकता है। इसका कारण है कि तत्त्व-मीमांसात्मक चिन्तन को ही समकालीन दर्शन में कोई मान्यता नहीं दी जाती है। इसलिये तत्त्वमीमांसात्मक ईश्वरवाद और निरीश्वरवाद, दोनों को ही भ्रमपूर्ण बकवास कहा जाता है। दूसरी बात है कि वास्तव में तत्त्वमीमांसात्मक निरीश्वरवादी ईश्वर के प्रति तटस्थ नहीं रहता है। प्रायः कुछ निरीश्वरवादी, जिनमें स्पिनोजा का नाम उल्लेखनीय है, ईश्वरवादी की अपेक्षा ईश्वर के विषय में अधिक चिन्तन करते हैं। निरीश्वरवादी स्पिनोजा को लोगों ने 'ईश्वरोन्मत्त' (God-intoxicated) संज्ञा दी है। तब ऐसे ईश्वरोन्मत्त को कैसे निरीश्वरवादी कहा जाय? अतः, तत्त्वमीमांसात्मक निरीश्वरवाद को सच्चा निरीश्वरवाद नहीं कहना चाहिये।

२. बात यह है कि तत्त्वमीमांसात्मक निरीश्वरवाद के लिये—

(क) ईश्वर है।

(ख) ईश्वर नहीं है।

दोनों ही कथन सार्थक माने जाते हैं। परन्तु, समसामयिक अनुभववादियों के अनुसार ये दोनों ही कथन अर्थहीन बकवास हैं। हमलोगों ने देखा है कि ईश्वर को उपास्य होने के लिये—

(क) सर्वोच्च सत्ता को अनिवार्य रूप से वास्तविक होना चाहिये।

(ख) ईश्वर के सभी उदात्त गुणों को ईश्वर में अनिवार्य रीति से विद्यमान रहना चाहिये।

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

अब यदि ईश्वर-प्रत्यय से ध्वनित हो कि ईश्वर को 'अनिवार्य वास्तविकता' होना चाहिये, तो कहा जाता है कि यह आत्मविरोधी वाक्यांश है। वास्तविकता-विषयक कथन कभी **अनिवार्य** नहीं कहे जा सकते हैं। उदाहरणार्थ, यह मेज भूरी है। यह कथन तथ्यात्मक है। इसे हम इस समय अपनी इन्द्रियों से अनुभूत कर रहे हैं। फिर, इस कथन को निश्चित रूप से सत्य भी कहा जायगा। परन्तु, निश्चितता को अनिवार्यता नहीं कहा जा सकता है। अनिवार्यता वह है, जिसके विपक्ष में कल्पना भी नहीं की जा सकती है। जैसे, लाल गुलाब लाल है।

यहाँ हम कल्पना भी नहीं कर सकते हैं कि 'लाल गुलाब' लाल न होकर सफेद या पीला हो। यह अनिवार्यता 'लाल गुलाब' की परिभाषा से ही सिद्ध होती है। अतः, अनिवार्यता शाब्दिक प्रयोग-संगति से उत्पन्न होती है। यहाँ इन्द्रियानुभव का कोई स्थान नहीं पाया जाता है। केवल शब्दों को ही समझ लेने पर उन्हें सावधानी से व्यवहृत करने पर तार्किक अनिवार्यता प्राप्त हो सकती है। इसकी तुलना में 'यह मेज भूरी है' निश्चित है, जिसे हम अपनी अनुभूतियों के द्वारा अनेक बार अकेले अथवा बहुतों के द्वारा प्रमाणित कर सकते हैं। परन्तु, हम कल्पना कर सकते हैं कि यह मेज भूरी न होकर काली या सफेद हो। यह मेज भूरी है, परन्तु इसके विषय में हम नहीं कह सकते हैं कि यह मेज अवश्यमेव भूरी होगी।

अतः, यदि ईश्वर वास्तविक हो, तो उसके वास्तविक न होने की कल्पना की जा सकती है, और इस रूप में ईश्वर को **अनिवार्य** नहीं कहा जा सकता है। इसके विपरीत यदि ईश्वर को अनिवार्य कहा जाय, तो इससे परिलक्षित होता है कि 'ईश्वर' 'लाल गुलाब' के समान शब्दमात्र है, जिसे हम संगत रूप से काम में ला रहे हैं, परन्तु जिसके सम्बन्ध में वास्तविकता का प्रश्न ही नहीं उठाया जा सकता है। अतः, **अनिवार्य सत्ता** अथवा **वास्तविकता** आत्मविरोधी प्रत्यय है। ईश्वर-प्रत्यय वन्ध्या माता के समान आत्मविरोधी तथा अर्थहीन है।[1]

---

१. देखें, Y. Masih : *'Introduction to Religious Philosophy'*, Chap. III, Sec. I; फिर *New Essays in Philosophical Theology* में A. Flew, J. N. Findlay, J. J. C. Smart इत्यादि के लेख देखें।

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

इसलिये ईश्वर है, ईश्वर नहीं है, दोनों ही अनुभववादी के लिये आयँ-वायँ तथा लकभम्मड़ के समान अर्थहीन शब्द हैं, अतः समकालीन निरीश्वरवादी दार्शनिक के लिये ईश्वर-चर्चा करनी ही नहीं चाहिये। पर, ईश्वर-कथन को क्यों अकथनीय कहा जाय? क्या आत्मविरोध ही इस अकथनीयता का एकमात्र आधार है?

३. मेरी समझ में ईश्वर-प्रत्यय की आत्मविरोधिता से उत्पन्न निरीश्वरवाद सभी प्रकार के निरीश्वरवादों की तुलना में उग्र और प्रबल माना जायगा। दार्शनिक विश्लेषण के आधार पर ईश्वर की वास्तविकता का प्रश्न ही नहीं उठता है; क्योंकि वास्तविकता का प्रश्न वहीं उठ सकता है, जहाँ तार्किक संगति हो। तार्किक असंगति में आत्मविरोधी प्रत्ययों के अनुरूप तथ्य हो ही नहीं सकता है। भला वन्ध्या माता के अनुरूप किस प्रकार की सत्ता हो सकती है? दार्शनिक विश्लेषण के आधार पर ईश्वर-विषयक-कथन, अर्थात् ई-कथन इसलिये अकथनीय है कि इसमें आत्मविरोध पाया जाता है। परन्तु, धर्मदर्शन के इतिहास में ई-कथन की अकथनीयता अन्य आधारों पर भी स्वीकारी गयी है।

(क) धर्मदार्शनिकों का कहना है कि ई-कथन इसलिये अकथनीय है कि ईश्वर में असंख्य गुण असीमित रूप में पाये जाते हैं। परन्तु, मानव-भाषा का ऐसा स्वरूप है कि वह असंख्य गुणों को एक साथ नहीं व्यक्त कर सकती है। फिर, मानव-भाषा मानव-अनुभूति पर आश्रित रहती है और मानव-अनुभूति सीमित हुआ करती है। इसलिये मानव-भाषा सीमित गुण को ही व्यक्त कर पाती है। यही कारण है कि मानव ईश्वर के असंख्य गुणों को असीमित रूप में नहीं व्यक्त कर पाता है। पाश्चात्य विचारकों में टॉमस अक्वाइनस को इस कोटि में रखा जा सकता है। सन्त टॉमस के अनुसार हम जानते हैं कि ईश्वर है, परन्तु हम यह नहीं जानते हैं कि उसका क्या असली स्वरूप है। परन्तु, सन्त टॉमस तथा पॉल तीलिख् को अज्ञेयवादी कहा जा सकता है, न कि निरीश्वरवादी। यह ठीक है कि यदि ईश्वर मानव-ज्ञान और भाषा से सर्वथा अतीत हो जाय, तो उसके प्रति तटस्थ होना तर्कसंगत रूप से सम्भव है। वर्त्तमानकालिक निरीश्वरवाद को अज्ञेयवाद का तर्कसंगत परिणाम कहा जा सकता है।

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

(ख) उपास्य ईश्वर को व्यक्तित्वपूर्ण होना चाहिये, परन्तु यदि परम सत्ता को व्यक्तित्वहीन मान लिया जाय, तो इस तत्त्वमीमांसात्मक स्थिति में भी उपास्य ईश्वर की वास्तविकता को नकारना कहा जायगा। शंकर के अनुसार परम सत्ता निर्गुण ब्रह्म है, यदि निर्गुण ब्रह्म के गुणों का अभाव हो, तो 'ईश्वर' संज्ञा नहीं दी जा सकती है; क्योंकि ईश्वर में व्यक्तित्वपूर्णता का विशेष गुण पाया जाता है। शंकर ने 'सगुण' ब्रह्म को गौण तथा उच्चतम सत्ता नहीं माना है। शंकर को निरीश्वरवादी इसीलिये कहा जा सकता है कि वे ईश्वर की वास्तविकता को अन्तिम सत् नहीं मानते हैं। परन्तु, शंकर ईश्वर की वास्तविकता को साधन के रूप में सापेक्षतया सत्य मानते हैं। अतः, शंकर को शुद्ध निरीश्वरवादी नहीं कहा जा सकता है। तो भी ईश्वरवादी दृष्टि से शंकर को निरीश्वरवादी कहा जायगा।

(ग) ब्रैडले, रॉयस, प्रिंगिल-वैटिसन इत्यादि निरपेक्षवादी हैं। तर्कसंगत रूप से इन्हें भी शंकर के समान निरीश्वरवादी कहा जायगा। परन्तु ये पश्चात्य प्रत्ययवादी अपने को विषयनिष्ठ प्रत्ययवादी कहते हैं और विषयनिष्ठ प्रत्ययवाद के अनुसार परम सत्ता पूर्ण एकत्व है, जिसमें सभी अनेकत्व संगत रूप से व्यवस्थित पाया जाता है। अतः, निरपेक्ष सत्ता में व्यक्तित्वपूर्णता का अभाव नहीं, वरन् व्यक्तित्वपूर्णता का असीमित रूप पाया जाता है। इसलिये इन निरपेक्षवादियों के अनुसार परम सत्ता अतिवैयक्तिक (Super-personal) है, न कि व्यक्तित्वविहीन। यह ठीक है कि रॉयस ने अतिवैयक्तिक सत् की व्याख्या की है। परन्तु, इनके अनुसार वास्तव में अतिवैयक्तिक परम सत्ता व्यक्तित्वपूर्ण ईश्वर का रूप धारण कर लेता है। बोसंकेट के निरपेक्षतावाद में व्यक्तित्व की किसी भी प्रकार की संरक्षा नहीं होती है। निरपेक्ष प्रत्ययवाद में परम सत्ता को 'अतिवैयक्तिक' संज्ञा देने पर भी वास्तव में ईश्वर की व्यक्तित्वपूर्णता की संरक्षा नहीं होती और अन्त में निरपेक्ष प्रत्ययवाद से निरीश्वरवाद की भावना में योगदान प्राप्त होता है।

(घ) पॉल तीलिख् पाश्चात्य धर्मदार्शनिकों में प्रमुख स्थान ग्रहण करते हैं। वे परम सत् को 'निरुपाधिक अतीत' (Transcendent uncoditioned) संज्ञा देते हैं। 'निरुपाधिक' पद से अभिलक्षित होता है कि परम सत् को किसी भी उपाधि अथवा गुण से विभूषित नहीं किया जा सकता है। परन्तु, क्या अज्ञेयवाद का आश्रय लेकर परम सत् को अनुपास्य और अकथनीय मान

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

लिया जाय ? शंकर के विपरीत पॉल तीलिख़ परम सत्ता को अनिर्वचनीय नहीं कहते हैं। तो क्यों परम सत्ता को 'निरुपाधिक' कहा जाय ? पॉल तीलिख़ का कहना है कि परम सत्ता सत् (Being) है और फिर मानव इस परम सत् को बिना प्रतीकों (Symbols) की मदद से नहीं जान सकता है। परन्तु, कोई प्रतीक क्यों न हो, वह एक समय परम सत् का भान (Apprehension) कराने में सहायक होता है और फिर ज्ञानवृद्धि अथवा युगदर्शन की चाल के साथ अन्त में क्षीण पड़कर फीका और व्यर्थ हो जाता है। अतः, पॉल तीलिख़ सभी प्रतीकों को परम सत् में भागी होने, उससे शक्ति प्राप्त करने तथा उसके आधार पर अपने को स्थिर करने में सापेक्षतया सहायक मानते हैं; साथ-ही-साथ उन्हें निरपेक्ष रूप से परम सत् के भान करने में समर्थ नहीं मानते हैं। अतः, पॉल तीलिख़ का मत बहुत-कुछ शंकर के मत से मेल खाता है। शंकर के अनुसार प्रत्येक देवी-देवता उसके लिये सत्य है, जो उसके संस्कार से मेल खाकर उसके विवेक को विमल बनाने तथा जिज्ञासु की बुद्धि को तीक्ष्ण करने में समर्थ और मनोवैज्ञानिक स्तर पर सहायक होता है, परन्तु शंकर के के अनुसार, निरपेक्ष रूप में सभी देवी-देवता असत्य कहे जा सकते हैं; क्योंकि अन्तिम ब्रह्म-प्राप्ति में सभी देवी-देवता का तिरोधान हो जाता है। अन्तर यही है कि शंकर प्रत्ययवादी हैं और पॉल तीलिख़ अस्तित्ववादी। फिर, शांकर देवी-देवता तत्त्वमीमांसात्मक सत्तायें हैं और इन सताओं को पॉल तीलिख़ सत्ता नहीं मानते और देवी-देवता के स्थान पर 'प्रतीक' पद को व्यवहार करते हैं। परन्तु, जिस प्रकार शांकर देवी-देवता भक्तों के संस्कार पर निर्भर रहकर अन्त में मनोवैज्ञानिक आस्था के विषय-मात्र हो सकते हैं, उसी प्रकार पॉल तीलिख़ के अनुसार, प्रतीक भी सामाजिक अचेतन मन पर निर्भर तथा आत्मनिष्ठ कहे जा सकते हैं। इसलिए, पॉल तीलिख़ स्वयं निरीश्वरवादी नहीं हैं, परन्तु इनके प्रतीक-सिद्धान्त के द्वारा समसामयिक निरीश्वरवाद के विकास में योगदान अवश्य प्राप्त हुआ है।

४. पाश्चात्य ईश्वरवादी एक अभ्युपगम (Postulate) को स्वीकार करते रहे हैं कि मानव बिना ईश्वर की धारणा के नहीं रह सकते हैं। यही कारण है कि सन्त टॉमस, तीलिख़ इत्यादि विचारक अज्ञेयवाद को धर्मदृष्टि से खतरनाक नहीं समझते थे। वे कान्त के समान स्वीकारते थे कि ईश्वर आस्था का, न

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

कि ज्ञान का विषय है। अतः, पाश्चात्य ईश्वरवादियों में अज्ञेयवाद के द्वारा ईश्वर की रहस्यानुभूति प्राप्त होती गयी और अज्ञेयवाद से ईश्वर ओझल न होकर साक्षात्कार का विषय होता आया है। वर्त्तमान काल में यह स्थिति नहीं रह पायी है। अब लोगों को ईश्वर के प्रति आस्था होती नहीं है और अधिकांश पाश्चात्य व्यक्ति बिना ईश्वर के प्रति आस्था के जीवन-निर्वाह कर रहे हैं। बॉनहोयफर ने ईश्वर के बिना जीवन की वास्तविकता को देखकर बताया है कि यह 'वर्त्तमानकालिक मानव की वयस्कता' (Modern man come of age) का बोधक है। यदि ईश्वर को आस्था का विषय माना जाय, तो कहना पड़ेगा कि आस्था मनोवैज्ञानिक तथा आंस्कृतिक निर्धारकों पर निर्भर करती है। अतः, समसामयिक निरीश्वरवाद सांस्कृतिक घटना है और धर्म की व्यावहारिक दृष्टि से इससे धर्म का विलयन सम्भव मालूम देता है। इसलिये, इस सांस्कृतिक निरीश्वरवाद की व्याख्या होनी चाहिये।

यूरोप में एक समय था, जब लोगों में डाइन, जादू-टोना इत्यादि में दृढ़ विश्वास था। फिर, मध्ययुग के बाद भी डाइन और जादूगरनियों को खोज-खोजकर चौराहों पर जलाया जाता था। अब ये घटनायें नहीं होती हैं; क्योंकि यूरोपनिवासियो में डाइन, जादू-टोना में विश्वास ही नहीं होता है। फिर एक समय था जब थौर, डायना, जीऊस, जूपिटर इत्यादि देवी-देवताओं में यूरोपनिवासियों को विश्वास था। अब वहाँ के लोगों को इन देवी-देवताओं में विश्वास नहीं होता है। बीसवीं शताब्दी में लोगों को ईश्वर में, ईसा में विश्वास है। परन्तु, यूरोप में दो महायुद्धों के बाद ईश्वर में लोगों का विश्वास फीका पड़ता जा रहा है, गिरजाघरों में जाकर प्रार्थना करनेवालों की संख्या में भारी कमी होती जा रही है। इससे ऐसा भान हो रहा है कि लोगों में ईश्वर के प्रति उसी प्रकार की उदासीनता आ जायगी, जिस प्रकार की उपेक्षा थौर, जूपिटर इत्यादि देवी-देवताओं के प्रति पायी जाती है। इस प्रकार का ईश्वर में अविश्वास ऐसा नहीं है, जो अल्पकालीन है अथवा सामयिक है। इस प्रकार का अविश्वास प्रायः स्थायी रूप से जड़ पकड़ लेगा। इस धार्मिक स्थिति को 'ईश्वर-निधन' (God is dead) की संज्ञा दी गयी है। यहाँ बताया जाता है कि जिस प्रकार जीऊस या जूपिटर यूरोपीय मानव के मानसिक क्षितिज से सर्वदा के लिए ओझल हो गये हैं, उसी प्रकार ईसाइयों

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

का ईश्वर ईसाइयों के लिए उनकी चेतना से अन्तर्धान हो जायगा। ऐसी अवस्था में ईश्वर को सिद्ध-असिद्ध करने का प्रश्न ही नहीं उठता है; क्योंकि मानव के लिए ईश्वर इतना अनर्गल, अर्थहीन और अनावश्यक सत्ता हो जायगा कि उसके विषय में किसी भी प्रकार का चिन्तन किसी को भी आवश्यक नहीं मालूम देगा। ईश्वर के प्रति पूर्ण तटस्थता तथा उपेक्षा को ही सांस्कृतिक निरीश्वरवाद कहा जाता है।

एक समय था, जब समस्त यूरोप में ईसाई धार्मिकों के द्वारा शिक्षण का कार्य होता था। अनेक विद्या-शिविरों में ईसा से प्राप्त उत्प्रेरण के कारण सभी प्रकार की शिक्षा उत्प्रेरित होती थी। अब भी अनेक शिक्षा-मन्दिरों को ईसाई सन्तों और संस्थापकों के नाम पर पुकारा जाता है। इसी प्रकार सभी कलाओं को ईसा पर अर्पित किया गया था। चित्रकारी में ईसा की जीवनी, उसकी शिक्षा तथा विमोक्षक मृत्यु इत्यादि का विषय ही प्रचारित किया गया था। संगीत में भी धर्म-प्रचार, ईसा-भक्ति, ईश्वर-प्रशंसा इत्यादि का उल्लेख किया गया है। अस्पतालों को भी ईसा-सेवा के रूप में संस्थापित किया गया था। आज वे सभी सांस्कृतिक कार्य, जिनसे सभ्य जीवन को सम्पन्न किया जाता है, धर्म-निरपेक्ष हो गये हैं।

स्कूलों और महाविद्यालयों में आवश्यक नहीं है कि शिक्षक ईसाई हों। यही नहीं, ईसाई-धर्म की शिक्षा भी अब सार्वजनिक विद्यालयों में नहीं दी जाती है। इस समय समस्त यूरोप में विज्ञान, तकनीकी और औद्योगीकरण की तूती बोलती है और इन्होंने प्रत्येक व्यक्ति के समग्र जीवन पर आधिपत्य जमा लिया है। अब यदि कोई बीमार पड़ता है, तो वह सर्वप्रथम डॉक्टर और चिकित्सा की बात सोचता है, न कि स्वास्थ्य-लाभ के लिये ईश्वर से प्रार्थना करता है। जब कोई बेकार हो जाता है, तब वह ईश्वर की दुहाई न देकर रोजगार-केन्द्र (Employment exchange) की मदद लेता है। इसी प्रकार, बाढ़, सूखा, तूफान, भूकम्प इत्यादि प्राकृतिक प्रकोपों के होने पर पाश्चात्य व्यक्ति तकनीकी की ओर निहारता है, न कि ईश्वर के प्रति प्रार्थना करता है। अतः, पारलौकिक सत्ता के प्रति विमुखता तथा इस संसार और समाज के प्रति संलग्नता को सांस्कृतिक निरीश्वरवाद कहा जाता है। क्या पाश्चात्य व्यक्तियों को मूल्यों के प्रति आस्था नहीं है ?

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

शायद सामाजिक दृष्टि से पाश्चात्य व्यक्ति पहले की अपेक्षा अधिक नैतिक है, परन्तु नैतिकता का स्वरूप बदल गया है। उसका काम जीवन के अनेक प्रतिबन्धों से मुक्त हो गया है। वह अब विश्व के अनेक निवासियों के प्रति सहानुभूति के साथ उन्हें अपने बराबर समझने लगा है और वह सोचने लगा है कि सभी मानव एक विश्व-राष्ट्र के सदस्य हैं। परन्तु, पाश्चात्य विचारक अथवा चिन्तनशील व्यक्ति की दृष्टि ऐहिक है, न कि पारलौकिक। पाश्चात्य ऐहिकतावादी इसी संसार को एकमात्र परम सत्ता मानकर विज्ञान और तकनीकी के आधार पर बहुसुखाय और बहुहिताय इस विश्व को विकसित करता है, ताकि दिन-दिन मानव-जीवन में दुःख और शोषण की कमी होकर विश्व-सौहार्द स्थापित किया जाय। इसीलिये, ऐहिकतावादी में भी मूल्यों के प्रति आदर है। अन्तर यही है कि वह स्वर्ग में अविश्वास कर इस पृथ्वी को स्वर्ग बनाने का प्रयास करता है। ऐहिकतावादी को पारलौकिक सत्ता के प्रति उदासीन भाव अपनाना चाहिये, अमर जीवन की आकांक्षा को व्यर्थ समझना चाहिये और मानव को अपने ऊपर भरोसा रखकर अपनी बुद्धि और श्रम से त्याग के आधार पर मानव-आदर्शों को साकार करना चाहिये। क्या पारलौकिक देवी-देवताओं के प्रति पराङ्मुखता भारतीय विचारक के लिये नयी पाश्चात्य देन है ? नहीं।

जैन और हीनयानी बौद्धमत के अनुसार ईश्वर को अस्वीकार-मात्र ही नहीं किया जाता है, वरन् इन दोनों मतों के अनुसार, आदेश दिया जाता है कि मानव अपने ही प्रयास से, अपने को अपना दीप बनाकर अपना चरम लक्ष्य प्राप्त कर सकता है। जैन विचारकों ने ईश्वर के अनस्तित्व के पक्ष में ईश्वरवादियों की युक्तियों का खण्डन किया है। बुद्ध भगवान् ने ईश्वर के प्रति पूर्ण उदासीनता दिखाई है, बुद्ध भगवान् ने ई-कथन को 'अव्याकृत' संज्ञा देकर ईश्वर के प्रति उपेक्षा-भाव प्रदर्शित किया है। इसलिये, भारतीय विचारकों के लिये अनीश्वरवाद कोई नयी देन नहीं है। इतना ही नहीं, शांकर वेदान्त के अनुसार श्रवण, मनन तथा निदिध्यासन के आधार पर ईश्वर की आराधना के स्तर से ऊपर उठकर ईश्वर के प्रति उदासीनता के भाव को अपनाना चाहिये। यह ठीक है कि शंकर ने इस बात को इतनी स्पष्टता से नहीं कहा है। परन्तु, ईश्वरोपासना के गौणत्व में यह बात निहित है। पर, यह बात बौद्ध समाधि

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

में स्पष्ट बतायी जाती है कि समाधि को स्थिर करने के लिये बुद्ध भगवान् की प्रतिमा को निमित्त-परिक्रमा के रूप में मनोवैज्ञानिक रूप से सहायक माना जा सकता है। परन्तु, अन्त में सभी निमित्त-परिक्रमाओं के आश्रय को छोड़कर निर्वाण के इच्छुकों को उपेक्षा-भाव अपनाना चाहिये। अतः, भारतीय विचारकों के लिए सांस्कृतिक निरीश्वरवाद को नया नहीं माना जा सकता है। परन्तु, पश्चात्य और भारतीय निरीश्वरवाद ऐहिकतावाद का तर्कसंगत परिणाम है और भातीय निरीश्वरवाद सांसारिक विमुखता से उत्पन्न अध्यात्मवाद है। अन्त में, दोनों प्रकार के निरीश्वरवाद में मानवतावाद है। कम-से-कम यहाँ दो बातों की चर्चा कर देनी चाहिये।

चूंकि पाश्चात्य देशों में धर्म का प्रमुख सिद्धान्त ईश्वरवाद ही है; इसलिये पाश्चात्य विचारक सोचते हैं कि ईश्वर के प्रति अनास्था हो जाने से धर्मों का विलयन हो जायगा। जैन, बौद्ध तथा शांकर अद्वैतवाद के अध्ययन से इस भ्रान्ति को दूर हो जाना चाहिये। निरीश्वरवादी धर्म भी सम्भव है और कम-से-कम ईसाई-धर्म की तुलना में निरीश्वरवादी धर्म छह-सात सौ वर्ष अधिक पुराना और अब भी प्रचलित एवं जीवित है और लोगों की आस्था का विषय है। अतः, ईश्वर के सांस्कृतिक निधन से धर्म का विलयन नहीं होता है।

द्वितीय, यदि धर्म का चरम उद्देश्य मानव-जीवन की स्थिरता-प्राप्ति हो, तो ईश्वर-निधन हो जाने पर भी योग, ध्यान तथा समाधि के आधार पर मानव अपने को स्थिर कर पायेगा। अतः, ईश्वर-निधन से धर्म का विलयन नहीं होता है। परन्तु, प्रश्न फिर किये जा सकते हैं। यदि ईश्वर के प्रति अनास्था हो जाय, तो क्या पाश्चात्य व्यक्तियों को पारलौकिक अध्यामवाद के प्रति आस्था हो सकती है? इसके पूर्व कि इस प्रश्न का समाधान किया जाय, निर्वाण-सम्बन्धी मत को स्पष्ट करना आवश्यक होगा। यह ठीक है कि जैन और शांकर मत को अध्यात्मवादी स्वीकारना सही मालूम देता है। परन्तु, मेरी दृष्टि में निर्वाण-गति को सम्पूर्णतया मनोवैज्ञानिक एवं अस्तित्ववादी कहा जा सकता है। अतः, पारलौकिक अध्यात्मवाद के प्रति अनास्था हो जाने पर भी निर्वाण-प्राप्ति का उद्देश्य अक्षुण्ण रह जाता है। पर क्या ऐहिकतावाद के साथ बौद्ध समाधि का योग सम्भव हो सकता है? इस पुस्तक का यही प्रतिपाद्य

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

विषय है और सम्पूर्ण पुस्तक के अध्ययन के बाद ही इस प्रश्न पर विचार किया जा सकता है।

× × ×

अब सर्वप्रथम भारतीय निरीश्वरवाद की व्याख्या की जायगी और तब पाश्चात्य निरीश्वरवाद की चर्चा होगी। अन्तिम अध्याय में इन दोनों प्रकार के निरीश्वरवाद का समन्वय किया जायगा।

●

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

अध्याय २

हिन्दुत्व के आर्य-अनार्य तथा प्राग्वैदिक-वैदिक तत्त्व

सिन्धुतट-सभ्यता : अब भी कुछ भारतीय विचारक हैं, जो सोचते हैं कि आर्य भारत के बाहर से नहीं आये हैं और वैदिक धर्म ही भारत का प्राचीनतम धर्म है। परन्तु, अधिकांश विचारक मानते हैं कि आर्य बाहर से भारत में आये और अपने साथ वैदिक धर्म को भी लाये। सम्भवतः, वेदों का अंश भारत में आगमन के पूर्व ही विद्यमान था और इस रूप में वैदिक काल का समय निर्धारित करना कठिन है। परन्तु यह भी स्वीकारा जाता है कि आर्यों के आगमन के पूर्व भारत में सभ्य जातियाँ थीं और उनका धर्म भी उन्नत अवस्था में था। इस अर्थ में भारत में प्राग्वैदिक धर्म भी था और अनार्य जातियाँ भी थीं। कम-से-कम यह बात मोहेंजोदाड़ो, हड़प्पा और चान्हूदाड़ो की खुदाई के बाद स्पष्ट हो गयी है। मोहेंजोदाड़ो, हड़प्पा और चान्हूदाड़ो की सभ्यता को 'सिन्धुतट-सभ्यता' संज्ञा दी जाती है।

परन्तु, सिन्धुतट की खुदाई के पहले भी श्रमण, परिव्राजक तथा व्रात्य लोग रहते थे और इन्हें भी अवैदिक ही मानना चाहिये। इसी श्रमण-व्रात्य-परम्परा से बौद्ध तथा जैन धर्म का उद्गम भी अतिसम्भाव्य समझा जाता है।[१] पटना-गया-शाहाबाद, तिरहुत-भागलपुर और मुंगेर को अनार्य देश माना जाता था। गया गयासुर का स्थान था और महाबली जरासन्ध को भी असुर-राजा कहा गया है।[२] साथ-ही-साथ, महादेव को इन अनार्यों का भगवान् माना जाता है। ऐसा आभासित होता है कि राजा जनक के पूर्वज भी महादेव के उपासक थे, जिसके धनुष को आर्य राजा राम ने ध्वस्त किया था।[३]

अतः, स्वीकारना होगा कि वैदिक धर्म के अतिरिक्त भी अनार्य धर्म था और यह उन्नत धर्म था। आर० एन० दाण्डेकर का कहना है कि वर्त्तमानयुगीन

---

१. Bihar Through the Ages, Govt. of Bihar, 1954, p. 121.
२. वही, पृ० ११४।
३. वही, पृ० ११५।

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

हिन्दुत्व में अविद्या, कर्म-सिद्धान्त, आवागमन तथा मोक्ष को धर्म का स्तम्भ माना जाता है और इनके अनुसार इन चारों मूलतत्त्व को अनार्य लोगों से प्राप्त किया गया है। फिर, इनका यह भी कहना है कि राम, कृष्ण, विष्णु तथा शिव की पूजा भी अवैदिक है।[१] बल्कि दाण्डेकर ने 'Some aspects of the History oy Hinduism, 1967.' में बताया है कि वर्त्तमानयुगीन हिन्दुत्व में वैदिक अंश केवल शब्दों में है, न कि इसके सार रूप में। अब कोई विद्वान् दाण्डेकर के मत का समर्थन करे या न करे, परन्तु ऐसा निश्चित मालूम देता है कि प्राचीन भारत में अवैदिक तथा अनार्य धर्म भी था, जिसका रूप गहन और महत्त्वपूर्ण समझा जायगा। इस वर्त्तमान युग में न तो 'अवैदिक' और न 'अनार्य' शब्दों को निन्दात्मक समझना चाहिये।

सिन्धुतट-सभ्यता में प्राग्वैदिक तथा अनार्य धर्म का आभास मिलता है। चूंकि सिन्धुतट की खुदाई में जो लिपि मिली है, उसका अभी तक कोई सर्वमान्य अध्ययन नहीं हुआ है, इसलिये मूर्त्तियों के अवलोकन-मात्र से ही सिन्धुतट-धर्म की अटकल लगायी जा सकती है। कम-से-कम तीन मूर्त्तियाँ देवताओं की मूर्त्तियाँ कही जाती हैं। प्रत्येक मूर्त्ति में देवता दिगम्बर रूप में योगासन की मुद्रा में दिखाई देता है, जिसकी दृष्टि नाक के अग्रभाग पर टिकी प्रतीत होती है। देवता के शरीर से नवपल्लव भी निकलते हुए दिखते हैं और उनके दाहिनी ओर हाथी और बाघ है और बाईं ओर गैंड़ा और भैंसा है। अतः, यह देवता योगिराज, लिंगराज तथा पशुपति हैं। अतः, जॉन मार्शल, ई० मके, मॉर्टिमर व्हीलर तथा अन्य भारतीय विचारक भी, अटकल लगाते हैं कि यह मूर्त्ति शिव भगवान् की है।[२] यहाँ उल्लेखनीय बात है कि सिन्धुतट का देवता

---

१. Asura Varuna, Annal BOR Institute, Vol. XXI, 1941; Rudra in the Vedas, J. of the University of Poona, 1953; Man in Hindu Thought, BOR, Vol. XLIII, 1963.

२. J. Marshall, Mohenjodaro and Indus Civilization, Vol. I. pp. 52–55; Arthur Probsthain, London 1931; E. Mackay, The Indus Civilization, Lovat Dickson and Thompson, Ltd. 1935, p. 71; Mortimer Wheeler, The Indus Civilization, Supplementary Volume to The Cambridge History of India, 1953; pp. 79-80.

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

योगी है और कीथ के अनुसार वेदों में योग की बात नहीं बतायी जाती है।[१] अतः, समाधि, योग तथा ध्यान अवदिक तथा अनार्य मालूम देता है।

केवल सिन्धुतट की खुदाई से ही नहीं और न केवल विहार-प्रदेश के इतिहास से, परन्तु स्वयं वेदों में उल्लिखित निर्देशों से स्पष्ट होता है कि आर्यों के अतिरिक्त अनार्य भी थे और उनका धर्म अवैदिक कहा जायगा। आर्य वीर योद्धा थे और वे ऐहिक जीवन की सभी प्रकार की अनुभूतियों के प्रति अनुक्रियाशील रहते थे। वे सांसारिक धन-सम्पत्ति, पुत्र तथा दीर्घजीवन इत्यादि की कामना रखते थे। वे अपने देवताओं की पूजा इसलिए करते थे कि यज्ञों से प्रसन्न होकर देवता उनकी कामनाओं को पूरा करेंगे। फिर, वे स्वर्गप्राप्ति की भी कामना करते थे और उनका सिद्धान्त था 'स्वर्गकामो यजेत् हव्यः।' स्वर्ग-सुख को ऐहिक जीवन का विस्तारण तथा इसकी सम्पूर्णता समझा जा सकता है। परन्तु, स्वर्गप्राप्ति से भिन्न मोक्ष-सिद्धान्त है। मोक्ष-सिद्धान्त के अनुसार स्वर्ग-सुख नश्वर और अल्पकालिक है और फिर इसमें आनन्द-प्राप्ति नहीं हो सकती है। नित्यता-प्राप्ति केवल ध्यान अथवा समाधि से ही सम्भव हो सकती है। फिर, वैदिक धर्म में यज्ञ की प्रधानता मानी गयी है और इसमें अनेक प्रकार के पशुओं की वलि दी जाती थी। इसके विपरीत अवैदिक धर्म में तपस्या, ध्यान, ब्रह्मचर्य तथा ब्रह्म-ज्ञान के आधार पर मोक्ष-प्राप्ति का चरम उद्देश्य माना गया है। बाद में चलकर सेश्वरवादी परम्परा में यज्ञों की बात न करके भक्ति को प्रधान स्थान दिया गया है। परन्तु, भक्ति-परम्परा को पद्मपुराण में द्राविड परम्परा कहा गया है।[२] अतः, ऐसा मालूम देता है कि वैदिक और अवैदिक दो परस्पर-विरोधी परम्परायें थीं और वे विभिन्न जातियों के द्वारा समादृत होती थीं।

---

१. A. B. Keith, Religion and Philosophy of the Veda, Vol. II, p. 401.

२. R. N. Dandekar, Some aspects of the History of Hinduism, p. 109; फिर देखें, श्रीमद्भागवत महापुराण, १ : ४८ : 'उत्पन्ना द्रविडे साहं वृद्धिं कर्णाटके गता।'

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

स्वयं वेदों में अनार्य जातियों का उल्लेख आता है और उन्हें 'दस्यु' संज्ञा दी गयी है, जिसका अर्थ या तो दास होता है या शत्रु। इन अनार्यों को अयज्ञी कहा गया है; क्योंकि ये वैदिक यज्ञों को नहीं स्वीकार करते थे। फिर, इन्हें अनिन्द्र कहा गया है; क्योंकि ये आर्यों के मुख्य देवता इन्द्र की पूजा नहीं करते थे। इन्हें अव्रत अथवा अन्यव्रती कहा गया है; क्योंकि ये अवैदिक व्रतों को मानते थे। इन्हें 'शिश्नदेवाः' कहा गया है; क्योंकि ये अनार्य लिंगपूजा करते थे। फिर, वैदिक धर्म में तपस्, योग और समाधि के माननेवाले व्रात्य, मुनि, यति को स्थान नहीं दिया गया है। ऐसी भी कथा एतरेय ब्राह्मण में बतायी गयी है, जिसके अनुसार इन्द्र ने यति से अप्रसन्न होकर उसे मार डाला और भेड़ियों के आगे उसके मृत शरीर को फेंक दिया।[1]

अभी तक हमने इतना ही भर दिखाया है कि प्राचीन भारत में आर्य-अनार्य तथा वैदिक-अवैदिक दो परस्पर-विरोधी धर्म-परम्परायें थीं और इस प्रकार की दो विरोधी परम्परायें भारत के पश्चिम और पूर्व के देशों में क्रमशः पायी जाती थीं। अभी तक लोगों ने सिन्धुतट-सभ्यता का सम्बन्ध विहार प्रदेश के व्रात्य, जैन तथा बौद्ध धर्मों की परम्परा से नहीं जोड़ा है। परन्तु, यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि अवैदिक सिन्धुतट-सभ्यता और बिहार की धर्म-परम्परा में बहुत समता है।

१. दोनों में शिव भगवान् की पूजा बतायी जाती है, और

२. दोनों में समाधि, योग और ध्यान को प्रधान साधन माना गया है, जिसके आधार पर मोक्षप्राप्ति हो सकती है।

सिन्धुतट की सभ्यता का कुछ अधिक सम्बन्ध द्रविड देशों से है और विहार के अवैदिक धर्म से कम है। सिन्धुतट-सभ्यता में देवियों को भी स्थान दिया गया है और कम-से-कम यह बात वैदिक धर्म में नहीं पायी जाती है। फिर, भक्ति की परम्परा अधिक द्रविड़ है और कम सिन्धुतटी है।

यदि समाधि, ध्यान-योग, तपस्या तथा ज्ञान-मोक्ष आदि तत्त्वों पर ध्यान दिया जाय, तो प्रतीत होगा कि ये तत्त्व वैदिक यज्ञ तथा स्वर्गप्राप्ति के चरम उद्देश्य से अपेक्षाकृत अधिक महत्त्वपूर्ण सिद्ध हुए हैं। अतः, वर्त्तमानयुगीन तथा

---

१. ऐतरेय ब्राह्मण, अध्याय ७,२८. १; तैत्तिरीय संहिता, २,४,९,२;६,२,७,५; ताण्ड्य ब्राह्मण, १४;२,२८;१८,१,९।

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

सनातन हिन्दुत्व में अनार्य और प्राग्वैदिक तत्त्वों की अधिक प्रधानता पायी जाती है और वैदिक परम्परा का अंश कम पाया जाता है। इसमें सन्देह नहीं की आर्य विचारकों ने कालान्तर में उन अवैदिक तत्त्वों को अपने धर्म में स्थान दिया, जिनके प्रति उनकी आस्था जम गयी थी। उसका मुख्य कारण यह था कि योग-ध्यान, तपस्, ब्रह्मचर्य के द्वारा मुनि-यति आदि में अद्‌भुत शक्ति पायी जाती थी और इसी शक्ति को प्राप्त करने के लिये आर्य ऋषियों ने अन्त में अवैदिक निवृत्ति-मार्ग को अपनाया। आर्य और अनार्य परम्पराओं के सन्धिस्थल के रूप में औपनिषदिक विचारधारा को स्वीकार किया जायगा।

डॉ० आर० एन० दाण्डेकर ने एक ही लेख के एक स्थल पर उपनिषद् को अवैदिक कहा है।[१] और फिर, तीन स्थलों पर उपनिषदों को वैदिक कहा है।[२] डॉ० दाण्डेकर ने उपनिषदों को इसलिये अवैदिक माना है कि इसमें गुरु-अन्तेवादी-सम्बन्ध पाया जाता है और इस प्रकार का सम्बन्ध वैदिक परम्परा में नहीं पाया जाता है।[३] मेरे मत में डॉ० दाण्डेकर का यह विचार बहुत अधिक बल नहीं रखता है। परन्तु, उपनिषदों को अवैदिक और अनार्य मानने के निम्नांकित युक्तियाँ हैं :

(क) उपनिषदों में मोक्षप्राप्ति की बात कही गयी है, न कि स्वर्गप्राप्ति की।

(ख) फिर मोक्षप्राप्ति समाधि तथा ज्ञान के द्वारा ही सम्भव होती है, न कि यज्ञों के द्वारा।[४]

(ग) परन्तु यहाँ उल्लेखनीय है कि वैदिक परम्परा को प्रवृत्तिमार्गी कहा जायगा और उपनिषदों को निवृत्तिमार्गी बताया जायगा। कम-से-कम बृहदारण्यक के अधिकतर भाग राजा जनक के तत्त्वावधान में याज्ञवल्क्य के द्वारा रचा गया था और यह

---

१. Some aspects of the History of Hinduism, p. 79n.

२. वही, पृ० ८५,८७,९०।

३. वही, पृ० ७९।

४. रानाडे के अनुसार अधिकांशतः उपनिषदों ने वैदिक यज्ञों का विरोध किया है—Constructive Survay of upanisadic philosophy, p. 6.

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

रचना तिरहुत देश के अनार्य भाग में सम्पन्न हुई थी ।[१] अतः, उपनिषदों को निवृत्तिमार्गमूलक अनार्य परम्परा में गिनना सही मालूम देता है ।

परन्तु, डॉ० दाण्डेकर ने उपनिषदों को क्यों वैदिक माना है ? डॉ० दाण्डेकर ने अपने मत की पुष्टि में सन्तोषजनक युक्ति प्रस्तुत नहीं की है । परन्तु, ए० बी० कीथ के मत को दुहराते हुए उन्होंने कहा कि वेद के पुरुषसूक्त और नासदीयस्तोत्र में उपनिषदों की पूर्वछाया पायी जाती है और सम्भवतः इन्हीं स्तोत्रों के फलस्वरूप उपनिषदों की रचना हुई होगी ।[२] यह युक्ति छिछली है । इसका कारण है कि स्वयं पुरुषसूक्त तथा नासदीयसूक्त वाद की रचनायें हैं, न कि प्राचीन । सम्भवतः ये रचनायें उसी समय में हुईं, जब उपनिषदों का उद्गम हो रहा था । अधिक समीचीन निष्कर्ष यह मालूम देता है कि पुरुषसूक्त तथा नासदीयसूक्त के समय आर्य विचारकों ने अनार्य प्राग्वैदिक धर्मदर्शन को अपना लिया था और इसके वाद वे अपनी रचनाओं में भी परिवर्त्तन लाने लगे थे । यही कारण है कि आर्य विचारक वैदिक देवताओं में ब्रह्म के गुण को खोजने लगे और इस खोज में उन्हें वरुण देवता का ऐसा रूप मिला, जिसे वे ब्रह्म के रूप में परिणत कर पाये । इसी समय से वैदिक-अवैदिक, आर्य-अनार्य परम्पराओं ने गंगा-यमुना की धाराओं के समान आपस में मिलकर सनातन हिन्दुत्व का रूप प्रदान किया है ।

उपनिषदों की शिक्षा को वेदान्त-दर्शन में व्यवस्थित किया गया है और वेदान्त के अनुसार ब्रह्म एकमात्र परम सत्ता है, जो अपनी मायाशक्ति से इस विश्व की रचना करता है । इस वेदान्त-दर्शन को ड्यूशन की सुझाव को मानते हुए डॉ० दाण्डेकर ने बताया है कि वैदिक देवता वरुण से प्राप्त किया गया है । डॉ० दाण्डेकर के अनुसार वरुण को असुर इसलिये कहा गया है कि उसमें आसु का होना बताया जाता है और आसु वह अर्धभौतिक तरल पदार्थ माना गया है, जो सम्पूर्ण विश्व को छाये हुए है ।[३] फिर, वरुण को मायावी भी कहा गया है; क्योंकि वह अपनी माया के द्वारा सम्पूर्ण विश्व को

---

१. Bihar through the ages, p. 121.

२. वही, पृ० ५३ ।

३. R. N. Dandekar, *Asura Varuna*, Annals of BOR Institute, Vol. XXI, 1941, pp. 23-24.

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

संचालित एवं व्यवस्थित करता है।[१] फिर, वरुण को यक्षिन् अथवा जादूगर भी कहा गया है; क्योंकि उसने विश्व को रहस्यमय रीति से उत्पन्न किया है।[२] अतः, डॉ० दाण्डेकर के अनुसार, वरुण-धर्म को ही ब्रह्म-विचार में परिणत कर दिया गया है और इसी वरुण-पूजा से मुक्ति-मोक्ष की चर्चा आयी है, ताकि वरुण के पाशों से व्यक्ति को मुक्त किया जाय।[३]

अब वरुण-विचार से ही ब्रह्म-विचार की उत्पत्ति हुई है या नहीं, यह अटकल का विषय रहेगा। परन्तु, इसमें सन्देह नहीं कि अवैदिक निवृत्तिमार्ग और वैदिक प्रवृत्तिमार्ग के बीच समन्वय हुआ और इस समन्वय के फलस्वरूप वैदिक विचार में भी क्रान्ति उत्पन्न हुई। इसमें सन्देह नहीं किया जा सकता है कि वैदिक धारा प्रवृत्तिमार्गपरक तथा अनेकदेवतापूजक थी। परन्तु, ब्रह्मज्ञान, अर्थात् औपनिषद धारा के प्रभाव में आकर वैदिक अनेकदेवतावाद एकत्ववाद में परिणत हो गया है। 'एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति' का सूत्र इसी अनार्य औपनिषद शिक्षा के फलस्वरूप उत्पन्न हुआ। फिर, वैदिक 'ऋत' की भावना कर्मसिद्धान्त में परिणत हो गयी। परन्तु, भगवद्गीता में प्रवृत्ति-निवृत्तिमार्ग का बेजोड़ सम्मिश्रण पाया जाता है। वैदिक परम्परा को स्वीकार करते हुए लोकसंग्रह के निःश्रेयस को स्वीकार किया गया है। फिर, वैदिक वर्णाश्रमधर्म को गीता में सम्पूर्ण समर्थन दिया गया है। यहाँ बताया जाता है कि अपने वर्ण के उपयुक्त निर्धारित कर्मों को निष्काम भाव से सम्पादित करने पर व्यक्ति को मोक्ष प्राप्त होता है।

स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धिं लभते नरः। (१८।४५)

फिर कहा है,

सहजं कर्म कौन्तेय सदोषमपि न त्यजेत्।
सर्वारम्भा हि दोषेण धूमेनाग्निरिवावृताः।। (१८।४८)

(अर्थात्, दोषपूर्ण रहने पर भी अपने वर्ण-धर्म को नहीं छोड़ना चाहिये; क्योंकि अग्नि धुएं से आवृत्त होने पर दोषपूर्ण ही रहती है।) यहाँ निष्काम कर्म

१. वही, पृ० २५।
२. वही, पृ० २६।
३. वही, पृ० ३४। फिर इसी बात को डॉ० दाण्डेकर ने Proceedings of the IXth International Congress for the history of religious, Tokyo, 1958, p. 673 में कहा है।

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

तथा मोक्षसिद्धि में निवृत्तिमार्ग, अर्थात् अवैदिक अंश पाया जाता है और लोकसंग्रह-हेतु वर्ण-धर्म को अपनाना प्रवृत्तिमार्ग अर्थात् वैदिक परम्परा का अंश देखा जाता है। अतः, भगवद्गीता को हिन्दुत्व का सर्वोच्च धर्मपुस्तक स्वीकार किया जाय, तो इसमें वैदिक-अवैदिक प्रवृत्ति-निवृत्तिमार्ग का सफल समन्वय दिखता है।

वैदिक ईश्वरवाद तथा एकत्ववाद :

अभी तक हमने दिखाया है कि एक ओर अवैदिक तथा अनार्य धर्म-परम्परा थी, जिसमें तपस्, ब्रह्मचर्य, मोक्ष, अविद्या, आवागमन आदि विशेष रूप से पाये जाते थे और दूसरी ओर आर्यधर्म-परम्परा थी, जिसमें पशुबलि, यज्ञ, स्वर्गप्राप्ति तथा बहु-देवत्व पाया जाता था। सामान्य रूप से अनार्य-परम्परा को श्रमणों का अथवा निवृत्तिमार्गियों का-धर्म कहा जा सकता है और आर्यों के धर्म को प्रवृत्तिमार्ग, वर्णाश्रम-धर्म आदि नाम से पुकारा जा सकता है। यह ठीक है कि सर्वमान्य हिन्दुत्व में दोनों धाराओं का समन्वय देखा जाता है, परन्तु इस समन्वय में अवैदिक तथा अनार्य तत्त्व वैदिक तत्त्व की अपेक्षा बहुत अधिक है। इस प्रकरण में बताया जायगा कि धीरे-धीरे वैदिक धर्म में श्रमण-परम्परा तथा निवृत्तिमार्ग अथवा ज्ञान-मोक्ष के निःश्रेयस का स्थान बढ़ता गया। वैदिक धर्म में सर्वप्रथम बहुदेवतावाद था। बाद में वरुण देवता की उपासना में शुद्ध ईश्वरवाद का विकास हुआ और अन्त में समाधिमूलक अवैदिक धर्म के प्रभाव में आकर वैदिक धर्म का विकास एकेश्वरवाद (monotheism) की ओर न होकर एकत्ववाद में परिणत हो गया। बाद में चलकर हम देखेंगे कि एकत्ववाद में निरीश्वरवाद की झलक पायी जाती है और यह भी आश्चर्य की बात नहीं है; क्योंकि समाधिमूलक धर्म में तर्कसंगत रूप से ईश्वर की आवश्यकता नहीं पड़ती। मानव अपने ही प्रयास से तपस्या एवं समाधि के द्वारा अपनी मुक्ति प्राप्त कर सकता है। यही कारण है कि अवैदिक परम्परा से उत्पन्न जैन और बौद्ध मतों में ईश्वर को स्थान नहीं दिया गया है। अब हमलोग वैदिक धर्म-विकास में बहुदेवतावाद, ईश्वरवाद और एकत्ववाद का आनुक्रमिक अध्ययन करेंगे।

बहुदेवतावाद : अनेक विचारक वैदिक धर्म को बहुदेवतावादी मानते हैं। आर्यों ने प्रकृति में पायी गयी शक्तियों को देवता का रूप दिया है और उन्हें यज्ञादि से प्रसन्न कर वे सन्तान, दीर्घायु, गो-धन तथा स्वर्गप्राप्ति की कामना

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

करते थे। इनके धर्म-विचार में नररूपीकरण स्पष्ट दिखता है। परन्तु, देवताओं के आह्वान करने के वाद उन्हें देवताओं की उपस्थिति की सबल अनुभूति हुआ करती थी। प्रायः वे देवताओं का आह्वान कर उन्हें कुश का आसन देकर आचमन के लिये जल देते थे, तव देवताओं की पूजा करके उनका विसर्जन करते थे। ये सव वातें ठीक इसी रूप में होती थीं, जिस प्रकार वाइविल में याहवे अदन की वारी में आदम से वातचीत करता था। फ्रॉयड ने वताया है कि प्राकृतिक घटनायें मानव के लिये कटु और असह्य होती हैं। वह मानव-जीवन के प्रारम्भ में आज की अपेक्षा और भी अधिक निर्वल और असहाय था। वह इन प्राकृतिक प्रकोपों का साक्षात् सामना नहीं कर सकता था। अतः, मानव ने सर्वप्रथम इन प्राकृतिक शक्तियों को नररूप में देखा, उनकी पूजा कर उन्हें प्रसन्न करने का प्रयास किया। सत्य है कि देवताओं की पूजा से प्राकृतिक प्रकोपों पर अधिकार नहीं हो सकता है, परन्तु फ्रॉयड के अनुसार, मानव को इससे दुःख-वहन करने में मनोवैज्ञानिक सन्तोष मिल जाता है। यही वात योद्धा, वीर, देश-विजयी आर्यों के लिये भी कही जा सकती है।

पहले देवताओं की संख्या ३३ वतायी जाती थी। वाद में ऋग्वेद, ३।९।९ में वताया गया है कि देवताओं की संख्या ३,३३९ है। इन देवताओं को द्युस्थान, अन्तरिक्षस्थान तथा पृथिवीस्थान के अनुसार विभिन्न वर्गों में वाँटा जा सकता है। वरुण, मित्र, सूर्य आदि को द्युनिवासी कहा गया है; इन्द्र, रुद्र, मरुत् आदि को अन्तरिक्षनिवासी और अग्नि, सोम आदि को पृथिवीनिवासी कहा गया है। आर्यधर्म के प्रारम्भिक काल में देवियों की संख्या और उनका महत्त्व वहुत कम था। इसलिये माँ दुर्गा, काली तथा शक्ति की उपासना को अनार्य समझा जाता है।

आर्य योद्धा थे और वे सुखप्रिय थे। उन्हें संसारविजेता होना और पृथिवी का भोग करना प्रिय था। स्वर्ग की कामना भी इसी सांसारिक सुख-प्राप्ति के हेतु की जाती थी। इसकी प्रतिध्वनि गीता में भी देखी जाती है:

हतो वा प्राप्स्यसि स्वर्गं जित्वा वा भोक्ष्यसे महीम्।
(गीता, २।३७)

(मरने पर स्वर्गप्राप्ति और जीतने पर पृथिवी का भोग मिलेगा।)

संसार-विरक्ति, तपस् तथा संन्यास वैदिक धर्म का परम लक्ष्य नहीं था। फिर, युद्ध-नीति को छोड़कर योद्धाओं में नैतिक मूल्यों का विशेष आदर नहीं

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

होता है। यही बात वैदिक देवताओं के सम्बन्ध में देखी जाती है। आर्य योद्धाओं के प्रमुख देवता इन्द्र हैं। इन्द्र देवता महाबली हैं और शत्रुओं का दमन करते हैं। वे दस्यु और सम्भवतः हड़प्पा के अनार्य राजा वृत्रासुर के दमन करनेवाले माने गये हैं। परन्तु, वे उषा को मलिन करने से नहीं हिचकते हैं (२।१५–६), मरुत् के साथ झगड़ बैठते (१।१७०–२) और सूर्य के साथ रथ की दौड़ में झगड़ते हुए पाये जाते हैं। इसी प्रकार अग्नि, सूर्य तथा इन्द्र पितृघातक भी बताये जाते हैं।

ईश्वरवाद : परन्तु भारत-विजय के बाद आर्य संगठित समाज में रहने लगे। उनमें नैतिकता की आवश्यकता होने लगी। ऐसी स्थिति में वरुण की पूजा महत्त्वपूर्ण प्रतीत होने लगी। बूके[१], ग्रिस्वोल्ड[२] तथा मैक्डोनेल प्रभृति[३] विचारकों ने बताया है कि वरुण देवता को वास्तव में सर्वोच्च सत्ता मानना चाहिये। वरुण देवता धर्मप्रिय, न्यायप्रिय, दयावान् तथा महापवित्र माने जाते हैं। वे पश्चात्ताप करनेवालों का पाप क्षमा करते हैं।

ऋग्वेद १ : २५ (वरुण) :

(कुछ पद्यों का स्वच्छन्द हिन्दी-अनुवाद)

मानव होने के हेतु हम तुम्हारे अनुष्ठानों का प्रतिदिन उल्लंघन करते हैं (१)। तुम मुझे मृत्यु को नहीं सौंप दो, मुझपर क्रोध न करो (२)। हे वरुण! तुम उड़नेवाले पक्षियों के आकाश-मार्ग और समुद्र के नौका-मार्ग के पूर्ण ज्ञाता हो (७)। घोरव्रती, सुन्दर, प्रज्ञावान् वरुण साम्राज्य-संचालन के हेतु विराजमान दिखाई देते हैं (१०)। भविष्य की सभी घटनाओं को वरुण जानते हैं (११)। हे वरुण! मेरे आह्वान को सुनो। मुझपर अनुग्रह करो। हे मेरे रक्षक! मैंने तुम्हारा आह्वान किया है (१६)। तुम आकाश और पृथ्वी के स्वामी हो। तुम हमारी पुकार का प्रत्युत्तर करो (२०)। हे वरुण!

---

१. A.C. Bouquet, *Hinduism*, Hutchinson Univ. Lib., 1948, pp. 30-31.

२. H. D. Griswold, The religion of the RG Veda (Humphrey Milford), 1923, Chap. V, Sec. V.

३. A.A. Macdonell, The Vedic Mythology, p. 3.

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

ऊपर के पाश को हटाओ, बीच के पाश को काटो और नीचे के पाश को हटाकर जीवन प्रदान करो (२१)।

भक्ति के रूप में भी वरुण की स्तुति की गयी है। ७ : ८९–३ में लिखा है कि 'समुद्र में रहकर भी मुझे प्यास लगी है।' पापक्षमा की याचना वरुण-पूजा में महत्त्वपूर्ण स्थान रखती है।

'हे वरुण ! हम तुम्हारे स्तोता हैं। हमें पाश से मुक्त करो। हमें तुम्हारा संरक्षण प्राप्त हो, और तुम हमारा सदा पालन करो।' (७ : ८८–१०)

हे वरुण ! हम मानवों से जो देवताओं के प्रति अपराध हुआ है या अज्ञानवश तुम्हारे प्रति कर्त्तव्य-पालन में जो त्रुटि हुई है, उन पापों के कारण हमारा विनाश न करो।' (७ : ८९–११)

'पाप' संज्ञा ईश्वर की महान् पवित्रता के प्रति त्रुटि के निमित्त दी जाती है। अतः, आर्य भक्तों में नैतिक गहराई और पवित्रता का भान स्पष्ट झलकता है। इस प्रकार की धार्मिक अनुभूति यहूदियों में बहुत बाद में पायी जाती है। अतः, वैदिक पुजारियों में अनुभूति की गहनता देखने में आती है। फिर, नश्वर शरीर-धारण के प्रति विमुखता दिखती है (७ : ८९–१)। इसमें मुक्तिमार्ग की पूर्वछाया प्रतीत होती है।

वरुण सृष्टिकर्ता हैं और 'ऋत' के द्वारा इस विश्व का संचालन करते हैं। इस ऋत को विश्वजनीन नैतिक विधान समझना चाहिये, जिसके अन्तर्गत मनुष्य और देवता सभी चले आते हैं। वरुण को सर्वद्रष्टा माना गया है; क्योंकि उनकी दृष्टि से छिपकर कोई भी नहीं बच सकता है।

अटकल लगाना बहुत कठिन है कि कालक्रम में इस नैतिक, सर्वशक्तिमान्, सर्वज्ञ, दयालु, पतितपावन ईश्वर का प्रत्यय क्यों विलीन हो गया। यदि वरुण की पूजा जारी रहती, तो सम्भवतः इस पूजा से शुद्ध एकेश्वरवाद की भावना विकसित होती। परन्तु, बार-बार आर्य ऋषियों में एकेश्वरवाद के रूप में अन्य देवताओं का भी विकास हुआ। उनमें विश्वकर्मन्, हिरण्यगर्भ तथा प्रजापति उल्लेखनीय देवता हैं। ऋग्वेद १० : ८२ में बताया जाता है कि विश्वकर्मा ही आदि में थे और तब उन्होंने आकाश और पृथ्वी की सृष्टि की और तब अन्य देवता उत्पन्न हुए। शक्तिमान् विश्वकर्मा ही इस विश्व के रचयिता और पालक हैं।

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

विश्वकर्मा ने आकाश-पृथ्वी की रचना की (१)। वे सर्वद्रष्टा, सर्वश्रेष्ठ और सबके निर्माता हैं (२) सभी देवता, इन्द्रादि जल-गर्भ में रहते हैं और वह गर्भ जल-द्वारा विश्वकर्मा धारण किये हुए हैं (६)। विश्वकर्मा आकाश-पृथ्वी, राक्षस तथा देवताओं से पूर्व हैं (५)।

इसी प्रकार, विश्वकर्मा को विश्व का सृष्टिकर्त्ता के रूप में १० : ८१ में माना गया है : 'विश्वकर्मा के नेत्र, मुख, भुजा और चरण सब ओर हैं........ वे विश्वकर्मा एक हैं' (३)।

परन्तु, हिरण्यगर्भ जिसे प्रजापति भी कहा गया है, सर्वोच्च ईश्वर माना जा सकता हैं। प्रजापति के विषय में कहा गया है कि आदि में उसने देवता और असुर की उत्पत्ति की। फिर, ऋग्वेद १० : १२१ में बताया है कि हिरण्य-गर्भ ने ही आकाश और पृथ्वी की सृष्टि की है और सभी प्राणियों पर वह एकमात्र प्रभुता करता है। उसे छोड़कर कोई अन्य देवता हवि का भागी नहीं हो सकता है। प्रत्येक पद्य के अन्त में पूछा जाता है 'कस्मै देवाय हविषा विधेम' (अर्थात् किस देवता को हवि अर्पण करें ?)। अतः, इसका उत्तर होता है कि किसी भी अन्य देवता को, हिरण्यगर्भ को छोड़कर, हवि नहीं अर्पित किया जा सकता है : 'सर्वप्रथम हिरण्यगर्भ उत्पन्न हुए........उन्होंने आकाश और पृथ्वी को स्थिर किया' (१)। 'जिन्होंने सभी प्राणी को शरीर और बल दिया है और जिनकी आज्ञा का सभी देवता पालन करते हैं और जिनकी छाया में अमरत्व और मृत्यु है, उन्हें छोड़ किन्हें हवि अर्पित करें (२)?' 'जो देवताओं के भी देवता हैं (८)।' 'वह जो सभी पर प्रभुता करते हैं (१०)।'

परन्तु, ईश्वरवाद के रूप में ऋग्वेद (१० : ९०) को प्रमुख माना जाता है। इस पुरुषसूक्त में बताया गया है कि ईश्वर विश्व में अन्तवर्त्ती भी हैं और फिर विश्व से अतीत भी हैं (१० : १, ३), फिर इस पुरुषसूक्त में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र की उत्पत्ति बतायी गयी है (१० : ११–१२)। पुनः, इसी सूक्त में ईश्वरवाद के साथ सर्वेश्वरवाद की भी ध्वनि मिलती है।

सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात्।
स भूमिं विश्वतो वृत्वात्यतिष्ठद्दशाङ्गुलम् ॥ (१)

पुरुष एवेदं सर्वं यद्भूतं यच्च भाव्यम्।
उतामृतत्वस्येशानो यदन्नेनातिरोहति ॥ (२)

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

एतावानस्य महिमातो ज्यायाँश्च पुरुषः ।
पादोऽस्य विश्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि ।। (३)

पुरुष के सहस्र सिर, पैर, आँख हैं । वह पृथ्वी को ढककर भी दस उँगली इससे अतीत है । जो कुछ है, वह सब पुरुष ही है। वह भूत और भविष्य भी है। वह इस अमर विश्व का पालक है और जो दिव्य भोजन से जगत् का अतिक्रमण करता है। पुरुष इन सब जगत् से श्रेष्ठ है। यह ब्रह्माण्ड इनका एक पगमात्र है तथा इनके तीन पग स्वर्गलोक में हैं।

इस विराट् पुरुष के मन्थन से विभिन्न जातियाँ उत्पन्न हुई :

ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद् बाहू राजन्यः कृतः ।
उरु तदस्य यद्वैश्यः पद्भ्यां शूद्रो अजायत ।।

अब प्रश्न होता है कि क्या वैदिक देवतावाद में एकेश्वरवाद का स्थान है ? एकेश्वरवाद उस धर्मदर्शन को कहा जाता है, जिसके अनुसार केवल एक ही ईश्वर है और उसकी तुलना में अन्य सभी देवी-देवता हीन तथा काल्पनिक हैं। शुद्ध रूप में एकेश्वरवाद केवल यहूदियों, ईसाइयों और मुसलमानों में पाया जाता है। इन व्यक्तियों के अनुसार केवल एक ही ईश्वर सत्य है और सभी देवी-देवता अवास्तविक हैं। हिन्दुत्व में इस प्रकार का एकेश्वरवाद प्रमुख रूप में नहीं माना गया है। कहीं-कहीं कुछ पन्थों में अपने इष्ट देवता को लोगों ने एकमात्र ईश्वर की संज्ञा दी है। परन्तु, इसे अपवाद कहा जायगा, न कि साधारण दावा। हिन्दुत्व में देवी-देवताओं की सापेक्षता, अनेकता और विविधता मानी गयी है, जिसके आधार पर भारत में धर्म-सहिष्णुता का भाव हजारों वर्षों से बना रहा है। देवी-देवताओं की सापेक्षता का सिद्धान्त हिन्दुत्व के सर्वेश्वरवाद तथा एकत्ववाद से निस्सृत होता है, जो हिन्दुत्व का प्रमुख धर्म-विचार है।

एकत्ववाद : इसमें सन्देह नहीं कि अनेक देवताओं के स्तुतिगान में एकेश्वरवाद की ध्वनि मिलती है। परन्तु, शुद्ध एकेश्वरवाद नहीं दिखाई पड़ता है। वरुण-देवता अहूर-मज्दा तथा याहवे के समकक्ष गिने जायेंगे, तो भी क्यों नहीं एकेश्वरवाद की उत्पत्ति हुई ? सर्वप्रथम, प्रत्येक जाति की अपनी प्रतिभा होती है। पाश्चात्य देशों में एकेश्वरवाद हुआ, तो भारत में सर्वेश्वरवाद। दोनों के अपने-अपने महत्त्व हैं। परन्तु, ऐसा आभासित होता है

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

कि अनार्य तथा अवैदिक धार्मिक चिन्तन से ही आर्यों का धर्म-विचार एकत्ववाद की ओर झुका। कम-से-क्रम औपनिषद विचारधारा में एकत्ववाद बड़ा स्पष्ट मालूम देता है और वैदिक विशेषज्ञों का मत है कि औपनिषद विचार और अन्तिम वैदिक सूक्त लगभग एक ही काल के हैं।[१] ऐसी अवस्था में वैदिक चिन्तन को औपनिषद विचारधारा से प्रभावित होना स्वाभाविक था। बात यह है कि औपनिषद काल में योग, समाधि तथा ध्यान के प्रमुख हो जाने पर, उपासना के स्थान पर निर्वैयक्तिक परम सत्ता का साक्षात्कार करना अपरिहार्य हो जाता है और ऐसी अवस्था में ईश्वरवाद के स्थान पर सर्वेश्वरवाद तथा एकत्ववाद का प्रादुर्भाव होना स्वाभाविक मालूम देता है। परन्तु, इस एकत्ववाद के विकास में भी एक क्रम दिखाई देता है।

मैक्समूलर ने विकल्पेश्वरवाद का सिद्धान्त प्रस्तुत किया है। इस हेनोथीज्म या कैथेनोथीज्म के अनुसार बारी-बारी से किसी भी प्रमुख देवता को सर्वोच्च मानकर ही पूजा की जाने लगी, ताकि अन्त में कोई एक देवता एकमात्र ईश्वर का स्थान ग्रहण कर ले। इस रूप में इन्द्र, अग्नि, पुरुष इत्यादि को देवताओं का देवता कहा गया है (ऋग्वेद १०:७९-१, अग्नि; १०:९०-८, पुरुष; १०: १२८-७ इन्द्र)। परन्तु, कीथ और मैक्डोनेल मैक्समूलर के विकल्पेश्वरवाद के मत को नहीं स्वीकार करते हैं।[२] इन वैदिक विद्वानों के अनुसार पूजा की वेला में किसी देवता से अभिभूत होकर उस क्षण में उसे सर्वोच्च मानना अथवा 'देवताओं का देवता' पुकारना केवल प्रशस्ति-प्रकाशन है, न कि कोई स्थिर दार्शनिक विचार। कीथ और मैक्डोनेल का ही मत सही मालूम देता है; क्योंकि अन्त में वैदिक धर्मचिन्तन में एकेश्वरवाद का विकास न होकर एकत्ववाद की ही स्थापना होती है। इस एकत्ववाद के अनुसार सभी देवता एक ही परम सत्ता के विभिन्न अंग हैं। इस एकत्ववाद की दिशा में प्रगति होने के क्रम में विश्वेदेवा: के प्रति लगभग ४० सूक्तों का प्रणयन किया गया है।

---

१. V. Raghavan, The Indian Heritage, The Indian Institute of world literature, Third edition, 1963. P. XXXII.

२. A.B. Keith, वही, पृ० ८९; A.B. Macdonell, वही, पृ० १६।

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

ऋग्वेद ५:२६-१,३ में अग्नि का आह्वान किया जाता है, ताकि वह सब देवताओं को यज्ञ में लाये। फिर, ५:२६-८ में बताया जाता है कि देवताओं को हवियाँ अग्नि के द्वारा पहुँचायी जाती हैं। पुनः, आपः को सम्बोधन कर (७:४६) जलदेवता के द्वारा वरुण, सोम तथा विश्वेदेवा का आह्वान किया जाता है। अपितु, ८:३०-२,४ में बताया गया है कि तैंतीस देवता हैं, जो स्तुत्य हैं और जो शत्रुओं के भक्षक हैं तथा सभी देवताओं से एक साथ कुशासन ग्रहण करने की प्रार्थना की जाती है। यहाँ मैक्डोनेल का कहना है कि किसी भी देवता को ईश्वर का स्थान नहीं दिया जा सकता है, परन्तु बारी-बारी से एक को दूसरे के अधीन माना जाता है। अन्त में, हम देखते हैं कि वेदों में एकत्ववाद की विजय हो जाती है। अग्नि का आह्वान कर ऋक् ५:३-१ में कहा गया है कि जन्म के समय अग्निदेवता वरुण का रूप, समृद्ध होकर मित्र का रूप और यजमान के लिये इन्द्र का रूप धारण करता है। पुनः, विश्वेदेवाः का आह्वान कर ऋक् १०:११४-५ में कहा गया है कि ईश्वर रूप पक्षी एक ही है, परन्तु विप्र लोग उसे अपने दृष्टिकोण से विभिन्न समझते हैं, विभिन्न छन्दों से उसकी उपासना करते हैं और द्वादश सोमपात्रों को स्थापित करते हैं। अन्त में, परम सत्ता देवताओं का रूप न धारण करके निर्वैयक्तिक सत्ता का रूप ले लेती है, जिसे ऋग्वैदिक सूक्तों में (१०:१२९) सबसे महत्त्वपूर्ण नासदीयसूक्त कहा गया है।

१. न असत् था और न सत् और न व्योम से परे कुछ था........उस गम्भीर गहन जलगर्भ में क्या था?

२. न अमरता थी और न मृत्यु। रात और दिन भी नहीं थे। ब्रह्ममात्र श्वासहीन रहते हुए श्वास छोड़ते थे। इनके अतिरिक्त और कुछ नहीं था।

३. अन्धकार अन्धकार से आच्छादित था और घोर गर्त्त था........।

४. तब सृष्टि की इच्छा उत्पन्न हुई और गर्भबीज उत्पन्न हुआ। विप्र बुद्धि के द्वारा सत् को असत् से उत्पन्न कल्पित करते हैं।

५-६. प्रकृति के तत्त्व का कौन उल्लेख कर सकता है? इसके आधार में क्या था? देवगण भी सृष्टि के बाद उत्पन्न हुए, तब कौन जानता है कि सृष्टि कैसे उत्पन्न हुई?

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

७. इस सृष्टि का रचयिता दिव्यधाम में रहता है। वही इसकी रचना जानता है। यह भी सम्भव है कि उसे भी इस सृष्टि का गर्भ ज्ञात नहीं है।

क्यों ज्ञात नहीं हैं ? क्योंकि परम सत्ता व्यक्तित्वपूर्ण ईश्वर नहीं, सम्भवतः निर्वैयक्तिक सत्ता है, जिससे सभी वस्तुयें निस्सृत हुई हैं। मानव और देवता सभी उसी एक ब्रह्म से उत्पन्न हुए हैं, परन्तु वह सबसे परे, बुद्धि और ज्ञान से अतीत है।

अतः, वैदिक धर्म-चिन्तन अन्त में समाधिमूलक औपनिषद धारा में विलीन हो जाता है। धीरे-धीरे पशु-यज्ञ की प्रथा भी कम होने लगी और लोगों में सद्भावना भी जगी। निम्नांकित पद सभी भारतीयों को कण्ठाग्र कर लेना चाहिये :

सङ्गच्छध्वं संवदध्वं स वो मनांसि जानताम् ।
देवा भागं यथापूर्वं सञ्जानाना उपासते ।।
समानी व आकूतिः समाना हृदयानि वः ।
समानमस्तु वो मनो यथा वः सुसहासति ।।

इसका भाव है : सब मनुष्य भली भांति मिलकर रहें, प्रेम से एक-दूसरे से वार्त्तालाप करें, सबके मन में एकता का भाव हो और वे अविरोधी ज्ञान प्राप्त करें। जिस प्रकार विप्र ईश्वर का ज्ञान प्राप्त कर उसकी उपासना करते हैं, उसी प्रकार सभी कोई ज्ञान और उपासना में दत्तचित्त हों। सब संकल्प एक समान हो और परस्पर सहयोग प्राप्त हो।

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

अध्याय ३

भारतीय निरीश्वरवाद की रूपरेखा

विषय-प्रवेश : वैदिक दैवतवाद में ईश्वर-भावना को निहित माना जायगा। इसलिये यदि निरीश्वरवाद की परम्परा को अटूट तथा उग्र रूप में अनेक धाराओं में पाया जाय, तो इसे अनार्य मानना चाहिये। इसके कई कारण प्रस्तुत किये जा सकते हैं।

१. जैन-बौद्ध-परम्परा को श्रमण-परम्परा में गिना जाता है और श्रमण-परम्परा को अवैदिक समझा जाता है। फिर, जैन-बौद्ध-परम्परा में सैद्धान्तिक रूप से निरीश्वरवाद को अपनाया गया है। हम आगे चलकर देखेंगे कि इस परम्परा ने ईश्वर-समर्थक युक्तियों का प्रवल विरोध किया है। यह ठीक है कि पूर्व-मीमांसा को वैदिक परम्परा में गिना जायगा और पूर्वमीमांसीय विचारधारा निरीश्वर-वादी है। परन्तु, पूर्वमीमांसा में कर्मकाण्डों को विशेष प्रश्रय दिया गया है और कर्म-प्रधानता भी अवैदिक ही समझी जायगी। अथर्ववेद के तान्त्रिक दर्शन में अनार्य प्रभाव बहुत अधिक दिखाई देता है और पूर्वमीमांसा के युग में इस अनार्य कर्मवाद का बहुत अधिक प्रभाव है। अतः, निरीश्वरवाद को अवैदिक मानना सही मालूम देता है। स्वामी दयानन्द सरस्वती ने वैदिक धर्म को ईश्वरवादी माना है। अतः, निरीश्वरवाद को अवैदिक मानना युक्तिसंगत है।

२. हमलोगों ने देखा है कि सिन्धुतट-सभ्यता में देवता को समाधि अथवा योग की मुद्रा में पाया गया है और बौद्ध-जैन-दर्शन में ही सर्वप्रथम योग को विशेष प्रश्रय दिया गया था। परन्तु, यदि समाधि और योग के द्वारा मानव अपना मोक्ष प्राप्त कर सकता है, तो सिद्धान्ततः इसमें ईश्वर की तथा अन्य किसी पारलौकिक शक्ति की अपेक्षा नहीं रहती है। चूंकि समाधि, तपस्, ब्रह्मचर्य आदि को अवैदिक परम्परा में रखना युक्तिसंगत मालूम देता है, इसलिये

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

समाधिमूलक जैन-बौद्ध निरीश्वरवाद को भी अवैदिक ही समझना चाहिये।

३. इसके पहले कि बौद्ध-धर्म का विकास हुआ। बुद्ध भगवान् के समय में ही निरीश्वरवादी परम्परा व्यापक रूप से पायी जाती थी। अजितकेशकम्बल, पूरणकस्सप, पकुधकच्चायन, मक्खलिगोसाल, संजय-वेलट्ठिपुत्र और निग्गंठनातपुत्त उल्लेखनीय निरीश्वरवादी विचारक थे। निग्गंठनातपुत्त जैन महावीर माने जाते हैं। मक्खलिगोसाल नियतिवादी थे। आप आजीवक थे और सभी घटनाओं को अवश मानते थे। अजित दान-पुण्य तथा श्रमण-ब्राह्मण का भेद नहीं मानते थे। संजय हिंसा, चोरी, ठगी तथा व्यभिचार तक को पाप नहीं मानते थे। परन्तु, इन जडवादियों, नियतिवादियों, आपातिकत्ववादियों, कालवादियों (अर्थात्, भाग्य-भरोसावादी), स्वभाववादियों तथा यदृच्छा-वादियों का भी समाज में आदर था। इसका कारण था कि ये सब बड़े तपस्वी थे और इन्हे ऋद्धियाँ प्राप्त थीं। मक्खलिगोसाल पंचाग्नि तापते थे, चमगादड़ की भाँति पेड़ों की डालियों से उलटकर झूलते थे। दूसरे शब्दों में ये सब तपस्या, समाधि आदि के पोषक थे, जिन्हें सब प्रकार से अवैदिक परम्परा में गिनना चाहिये। अतः, जडवादी, नियतिवादी आदि निरीश्वरवादी परम्परा को गया-शाहाबाद तथा बिहार के अन्तर्गत अनार्य देश की परम्परा मानना युक्तिसंगत है।

प्रायः भारतीय दर्शनों को नास्तिक और आस्तिक, दो वर्गों में बाँटा जाता है। जिस दर्शन में वेद को स्वीकार किया जाता है, उसे आस्तिक और जिस दर्शन में वेद को मान्यता नहीं दी जाती है, उसे 'नास्तिक' संज्ञा दी गयी है। परन्तु, अधिकांशतः भारतीय दर्शन आरम्भकाल, अर्थात् सूत्र-रूप में निरीश्वर-वादी हैं। यह बड़े आश्चर्य का विषय है। चार्वाक, जैन और बौद्ध नास्तिक दर्शनों का निरीश्वरवादी होना उतना अधिक आश्चर्यजनक नहीं प्रतीत होता है, जितना आस्तिक दर्शनों का। इसका कारण है कि वैदिक दर्शन विशेषतया ईश्वरवादी कहा जायगा और तब आस्तिक दर्शन कैसे निरीश्वरवादी हो सकता है? परन्तु सूत्र-रूप में सांख्य-योग, न्याय-वैशेषिक तथा पूर्वमीमांसा को निरीश्वरवादी समझना युक्तिसंगत मालूम देता है और अद्वैतवादी शांकर

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

वेदान्त में ईश्वर को गौण मानकर अन्त में ईश्वर को परम सत् न मानना निरीश्वरवाद ही कहा जायगा। परन्तु, अनेक भारतीय विचारक एक ओर भारतीय दर्शन को मूलतः निरीश्वरवादी नहीं मानते हैं और फिर वे अनार्य-अवैदिक तत्त्वों को स्वीकार भी करते हैं। इसका क्या कारण हो सकता है?

अधिकतर हिन्दू अपने को आर्य समझते हैं, जो विवादास्पद विषय है। सच्ची बात यह है कि अधिकांश भारतीय आर्य-अनार्य तथा अनेक जातियों के सम्मिश्रण से उत्पन्न हुए हैं। इसे स्वीकारने में किसी को दोष नहीं लग सकता है। 'शुद्ध रक्त' की देवकथा हिटलर ने रची थी और उससे किसी का भी कल्याण नहीं हुआ। अतः, दक्षिण और उत्तरभारतवासियों का मनगढ़न्त संघर्ष वृथा है। न शुद्ध द्राविड है और शायद ब्राह्मणों को छोड़कर शुद्ध आर्य भी कोई नहीं है। इसलिये यदि अनार्य और आर्य की विभिन्न परम्पराओं को मान लेने पर ऐतिहासिक तथ्यों की तोड़-मरोड़ नहीं होती है और यदि लगभग दो सहस्र वर्षों के हिन्दुत्व पर प्रकाश पड़ता है और यदि भारतीयता के विकास में योगदान मिलता है, तो ऐसी स्थिति में सभी धाराओं को वैदिक गिनना अयुक्ति-संगत है। यदि बुद्ध भगवान्, जैन महावीर और राजा जनक अनार्य सिद्ध हो जायँ, तो क्या वे हमारे आदर और गर्व के विषय नहीं होंगे? आर्य हो या अनार्य, जो भारत की मिट्टी में पलकर भारतीय चिन्तन, विचार और इसके बौद्धिक क्षितिज का विस्तार करेगा, वही इस भारत का देदीप्यमान रत्न कहलायगा।

भारतीय दर्शन को मूलतः निरीश्वरवादी नहीं मानने का दूसरा कारण इस वर्त्तमानकाल में इसलिये है कि निरीश्वरवाद को जडवाद का ही एक रूप माना जाता है और भारतीय दर्शन निरीश्वरवादी रहते हुए भी अध्यात्मवादी अथवा पारलौकिकवादी है। और, लोकप्रिय जनमत के अनुसार अध्यात्मवाद को निरीश्वरवाद नहीं कहना चाहिये। मेरी समझ में यह भ्रम तार्किक आधार पर नहीं है; क्योंकि अध्यात्मवाद और ईश्वरवाद में कोई अवियोज्य आपादन का सम्बन्ध नहीं है। जैनमत में अध्यात्मवाद शुद्ध रूप में है, परन्तु इसमें निरीश्वर-वाद भी शुद्ध ही रूप में है। फिर, ईश्वरवाद में ही अध्यात्मवाद है, यह भी विवादास्पद है। ईसाई धर्म ईश्वरवादी है और ईसाइयों ने धर्म के नाम पर क्या नहीं किया? जो कुछ बाद में ईसाइयों के द्वारा विश्व-कल्याण की बात

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

कही गयी है, वह ऐहिकतावाद का परिणाम है, न कि उनके अध्यात्मवाद का। यही बात अन्य ईश्वरवादियों की है, जिनसे भारतीय भली भाँति परिचित हैं। अतः, अध्यात्मवाद को निरीश्वरवादी मानने में कोई असंगति नहीं होती है। इस अर्थ में 'नास्तिक' शब्द को पाणिनि के विश्लेषण के अनुसार समझना चाहिये, अर्थात् नास्तिक वह है, जो परलोक में विश्वास नहीं करता है (नास्ति परलोको यस्य सः), न कि वह जो वेदों का निन्दक है। अतः, जैन-बौद्ध तथा मूलभूत सांख्य-मीमांसा को निरीश्वरवादी कहा जा सकता है, न कि नास्तिक दर्शन।

यदि मान लिया जाय कि भारतीय दर्शन और धर्मदर्शन का सूत्ररूप निरीश्वरवादी है और बाद में भाष्य, टीका तथा वृत्ति में ईश्वरवाद की झलक आती है, तो यह भी आश्चर्यजनक बात होगी। कम-से-कम यदि जैन-बौद्ध की परम्परा को अवैदिक और निरीश्वरवादी माना जाय और इस परम्परा को प्राग्वैदिक कहा जाय, तो यह आश्चर्यजनक चिन्तन-इतिहास कहा जायगा। प्रायः धर्म के विकास में आदिकाल में सर्वात्मजीववाद (Animism), मानावाद (Manaism), टोटमवाद, बहुदेवतावाद आदि आते हैं और तब ईश्वरवाद का विकास होता है। जब ईश्वरवाद की परम्परा चल जाती है, तभी इसके विपक्ष में अन्त में निरीश्वरवाद का उदय होता है। ऐसी अवस्था में अनार्य निरीश्वरवाद को धर्मचिन्तन का आदिकाल नहीं समझना चाहिए। ऐसा आभासित होता है कि योग-समाधि के प्रादुर्भाव के पूर्व निम्नकोटि के धर्मदर्शन भी थे और निम्नकोटि के देवी-देवताओं की उपासना भी होती थी। अतः, सिन्धुतट-सभ्यता का अथवा बिहार का सांस्कृतिक इतिहास बहुत पुराना है और इसके पूर्व का धर्मचिन्तन इस समय सुदूर अतीत के गर्भ में लीन मालूम देता है। परन्तु, यहाँ अटकल लगायी जा सकती है।

सिन्धुतट की खुदी मूर्त्तियों के अवलोकन से प्रतीत होता है कि इस काल में देवी-देवियों की भी पूजा होती थी। कम-से-कम अनार्य बिहार में यक्ष, यक्षिणी, नाग तथा वृक्षों की और पितरों की पूजा चैत्यों के द्वारा हुआ करती थी। बौद्धों ने चैत्यों की परम्परा अक्षुण्ण रखी और स्वयं बुद्ध भगवान् ने वटवृक्ष के नीचे ज्ञान प्राप्त किया था।[१] अतः, सम्भव है कि शक्ति, राम-कृष्ण, दुर्गादि

१. Bihar Through the Ages, p. 119.

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

की पूजा किसी-न-किसी रूप में अनार्यों की बीच पायी जाती थी। सम्भवतः, दो प्रकार का धर्म-अनुष्ठान किया जाता था, अर्थात् निम्नकोटि के देव-देवियों की पूजा, तान्त्रिक साधना आदि एक ओर, और दूसरी ओर समाधिमूलक निरीश्वरवादी तपस् एवं ब्रह्मचर्य। अधिकारी-भेद के अनुसार व्यक्ति दोनों में से किसी एक पक्ष को अपनाते थे। बुद्ध भगवान् ने गृहस्थों को अधिक छूट दी थी और जैनों में गृहस्थों को कम स्वतन्त्रता मिली थी। परन्तु, दोनों के अनुसार केवल भिक्षुओं को ही मोक्ष-निर्वाण प्राप्त हो सकता है। यदि आगे चलकर शंकर ने भी इसी अधिकारी-भेद को माना और स्वीकार किया कि किसी भी देवी-देवता की पूजा से ब्रह्मज्ञान-प्राप्ति में सहायता मिलती है, तो उन्होंने दो प्रकार के धर्म-अनुष्ठान को संगत रूप में ही प्रस्तुत किया है। अतः, ऐसा आभासित होता है कि समाधि-योग उच्चतर धार्मिक साधना का द्योतक था और सेश्वरवादी विभिन्न परम्परायें लोकप्रिय धार्मिक क्रिया-कलापों की व्यवस्था थी। बाद में चलकर सेश्वरवादी पूजा भक्ति में परिणत हो गयी और भक्ति भी अन्त में भावपरक आत्मविलयन का वैसा ही मार्ग है, जिस प्रकार ब्रह्मज्ञान से निर्गुण-प्राप्ति को आत्मविलयन अथवा निर्वाण-गति में अनात्मभाव की प्राप्ति को आत्मविलयन कही जा सकती है। इसलिए भक्ति-परम्परा अनार्य मानी जाती है और इसमें भी अन्त में वही आत्मविलयन का चरम लक्ष्य पाया जाता है, जो निर्वाण-गति में देखा जाता है।

अतः, आर्य तथा वैदिक धर्म-परम्परा की अपेक्षा अवैदिक विचारधारा का अधिक अवाध विकास हुआ। परन्तु, चूँकि समाधिमूलक धर्म कठिन है, इसलिए वाद में जाकर इसमें निम्नकोटि की पूजा तथा तन्त्र का हाथ चला आया और अन्त में भारतीय हिन्दुत्व में ईश्वरवाद का स्थान प्रमुख हो गया। परन्तु, पाश्चात्य विचारधारा को ध्यान में रखते हुए मानना पड़ेगा कि भारतीय समाधिमूलक निरीश्वरवादी अध्यात्मवाद का ही भविष्य उज्ज्वल है, न कि ईश्वरवाद का। परन्तु, अव हमें स्पष्ट करना है कि निरीश्वरवाद ही भारतीय चिन्तन का मूल रूप है। इस वात को स्वीकारने में कुछ कठिनाई हो सकती है। चूँकि जैन-वौद्ध परम्परा को निरीश्वरवादी अध्यात्मवाद मानने में लोगों को विशेष आपत्ति नहीं होती, इसलिए अव षड्दर्शन में निरीश्वरवादी पक्ष को स्पष्ट करना अभीष्ट मालूम देता है।

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

षड्दर्शन में निरीश्वरवाद का स्थान :

ईश्वर के स्वरूप के विषय में बताया जाता है कि ईश्वर सृष्टिकर्त्ता, जगन्नियन्ता और कर्मफलदाता है। सवप्रथम, ईश्वर की कल्पना इसीलिए की गयी थी कि इसके द्वारा विश्व की व्याख्या की जाय। इस विषय में कुछ उल्लेखनीय बातें हैं।

(क) प्रायः भारतीय दर्शन में सृष्टि को शाश्वत माना जाता है, अर्थात् ईश्वर ने किसी एक निश्चित काल में इस विश्व की रचना की है। यद्यपि यह सृष्टि अनादि है, तथापि ज्ञान-प्राप्ति के बाद यह सृष्टि भ्रमपूर्ण सिद्ध होकर विलयन को प्राप्त हो जाती है। अतः, एकरूप में पारमार्थिक रीति से न यह विश्व है और न इसकी व्याख्या की आवश्यकता है, अर्थात् न इसका कोई वास्तविक कारण हो सकता है और न इसकी वास्तविकता ही स्वीकार की जा सकती है। सांख्य, न्याय, वैशेषिक तथा वेदान्त-दर्शन में भिन्न-भिन्न रूप से सृष्टि-सम्बन्धी व्याख्या की गयी है। परन्तु, यह सृष्टि अनादि मानी गयी है और इस रूप में यह पाश्चात्य सृष्टि-विचार से सर्वथा भिन्न है।

(ख) चूंकि सृष्टि अनादि है, इसलिए ईश्वर इस विश्व का **निमित्तकारण** हो सकता है, अर्थात् ईश्वर ने इस विश्व को परमाणुओं से (वैशेपिक), कर्म-संस्कार के आधार पर (न्याय) सृष्ट किया है। न तो ईश्वर, वैशेषिक दर्शन के अनुसार परमाणु, दिक्-काल, आकाश तथा आत्मा की सृष्टि करता है; क्योंकि ये नित्य हैं और न वह कर्म-संस्कार को ही उत्पन्न करता है; क्योंकि ये जीव-द्वारा ही उत्पन्न होते हैं। यहाँ भी पाश्चात्य सृष्टि-विचार के अनुसार ईश्वर शून्यतः सृष्टि करता है, अर्थात् ईश्वर उपादान भी उत्पन्न कर इस विश्व की रचना करता है। भारतीय सृष्टि-विचार के अनुसार ईश्वर केवल निमित्त-कारण है। वह जीवों को शरीर आदि उनके पूर्व-संस्कार के फलस्वरूप प्रदान करता है और अपने अनुग्रह के द्वारा जीवों के पुरुषकार के आधार पर ब्रह्म-ज्ञान अथवा मुक्तिज्ञान की प्राप्ति में सहायक सिद्ध होता है। इसलिए, ईश्वर को कर्मफलदाता कहा गया है।

ईश्वर-विचार भारतीय दर्शन में दो मुख्य समस्याओं के समाधान के लिए काम में लाये गये हैं।

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

क्या विश्व याद्दच्छिक अथवा आकस्मिक है, जिसका कोई उद्देश्य नहीं, या विश्व का भी उद्देश्य है, जिसे किसी विधाता ने निश्चित किया है ? ईश्वरवादी समझते हैं कि विश्व-व्यवस्था के देखने से, इसमें साधन-साध्य का सम्बन्ध प्राप्त करने से ईश्वर की न्यायसंगत कल्पना की जा सकती है। यदि मान भी लिया जाय कि दिक्-काल, आकाश तथा परमाणु हों, तो इन्हें कौन सुव्यस्थित करता है ? इन सब समस्याओं के समाधेयक (Solver) के रूप में ईश्वर की कल्पना की गयी है।

फिर क्या व्यक्ति अपना मोक्ष अपने से प्राप्त कर सकता है या ईश्वर को सहायक मान कर उसके अनुग्रह से मोक्ष प्राप्त किया जा सकता है ? यहाँ कर्मसंस्कार और पुरुषकार की समस्या उठती है और इसके समाधान के लिये भी ईश्वर की कल्पना की गयी है।

यदि इन दोनों रूपों में ईश्वर-विचार को रखा जाय, तो ईश्वर की कल्पना विशेष नहीं सिद्ध हो सकती है। यदि विश्व-सृष्टि अनादि हो, तो क्यों इसका अन्त माना जाय ? क्यों नहीं इसे प्रयोजन-हीन कालवादी, यदृच्छावादी तथा स्वभाववादी व्यवस्था कहा जाय ? फिर, यदि कर्म से ही बन्धन होता है और ज्ञान से जीव मुक्त होता है, तो ईश्वर का स्थान कहाँ आता है ? अधिक-से-अधिक ईश्वर को ज्ञान-प्राप्ति में सहायक माना जा सकता है और तब ईश्वर का स्थान गौण हो जाता है। यही कारण है कि भारतीय दर्शन में ईश्वर-विचार प्रबल नहीं दिखाई देता है।

इस भूमिका के साथ षड्दर्शन के विशेषकर सूत्ररूप में ईश्वर के स्थान को निश्चित किया जा सकता है।

सांख्यदर्शन :

सांख्यदर्शन के संस्थापक कपिल मुनि माने जाते हैं, जिन्हें लोगों ने भगवान्-स्वरूप आदिविद्वान् माना है। सांख्यदर्शन बड़ा प्राचीन है। उपनिषदों में, गीता में तथा साहित्य में सांख्यदर्शन को महत्त्वपूर्ण स्थान दिया गया है। इसके अनुसार दो ही परम सत्तायें हैं : प्रकृति और पुरुष। प्रकृति सत्त्व, रजस् और तमस् तीन गुणों से निर्मित चैतन्यशून्य जड सत्ता है और पुरुष शुद्ध चैतन्य है। पुरुष के बिना अथवा उससे स्वतन्त्र प्रकृति सत्त्व,

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

रजस् और तमस् के तीनों गुणों की सन्तुलित अवस्था में निष्क्रिय रहती है, परन्तु पुरुष के संयोग में आने पर इस समतोल में विकृति उत्पन्न हो जाती है और क्रमशः विश्व-विकास प्रारम्भ हो जाता है। पुरुष निष्क्रिय रहता है और सभी विश्व-प्रक्रियायें प्रकृति से ही संचालित होती हैं। इसी धारणा को थोड़ा संशोधन कर वेदान्त-दर्शन की स्थापना की गयी है। वेदान्त के अनुसार स्वयं निर्गुण ब्रह्म सभी परिवर्त्तनों से परे और अतीत होता है, और माया ही ब्रह्म की कार्यशक्ति है। अतः, सांख्य की लज्जावती प्रकृति माया का रूप धारण कर लेती है और अनेक पुरुषों के स्थान में शुद्ध चित् के रूप में निर्गुण ब्रह्म हो जाता है। यदि वेदान्त को इस प्रकार से सांख्य-दर्शन का संशोधित रूप माना जाय, तो सांख्य की, महत्ता आसानी से आँकी जा सकती है। फिर, विवेक-ज्ञान के उत्पन्न हो जाने पर, सांख्य के अनुसार, पुरुष अपने को अकर्त्ता मानकर तथा मनस्, बुद्धि इत्यादि से अपने को एकदम भिन्न जानकर सभी वासनाओं और शारीरिक भावों से उन्मुक्त होकर मुक्ति प्राप्त कर लेता है। ठीक इसी प्रकार अद्वैत-वेदान्त के अनुसार ब्रह्मज्ञान प्राप्त कर लेने पर व्यावहारिक जगत् की सभी प्रक्रियाओं से मुक्त होकर जीव अपने निजी ब्रह्मरूप को प्राप्त करता है। अतः, सांख्य-दर्शन को भारतीय दर्शन का मूलदर्शन समझा जा सकता है। इसकी प्राचीनता, निरीश्वर-वादिता, मुक्ति-केन्द्रिता तथा प्रकृतिवाद को देखकर डॉ० आर०एन० दाण्डेकर[१] के साथ कहना पड़ता है कि सांख्यदर्शन में प्राग्वैदिकता एवं अनार्यता का विचार-कलाप देखा जाता है।

सांख्य सत्कार्यवाद को स्वीकारता है। इसके अनुसार कार्यकारण में पहले से ही निहित रहता है। यह विश्व जड है और कार्य है। इसलिये इसका कारण भी जड प्रकृति मानी जायगी, अर्थात् विश्व का विधान चैतन्यशून्य कारणों से संचालित होता है। अतः, ऐसी अवस्था में आत्म-सृष्टि की व्याख्या के लिये ईश्वर की आवश्यकता नहीं पड़ती है। फिर, बताया जाता है कि निजी रूप में प्रकृति रजस्, तमस् तथा सत्त्व गुणों की साम्यावस्था में रहती है। परन्तु, पुरुष के संयोग में आने पर इस प्रकृति की

---

१. R. N. Dandeker, ABOR I. 1968, Jubilee Volume, p. 444.

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

साम्यावस्था में विकृति उत्पन्न होकर सृष्टि-विकास उत्पन्न हो जाता है। अतः, न तो सृष्टि-रचना में और न सृष्टि के संचालन में पुरुष-प्रकृति के अतिरिक्त सिद्धान्ततः ईश्वर की आवश्यकता पड़ती है।

यही बात विवेक-ज्ञान और सृष्टि-विलयन में भी लागू होती है। जबतक जीव अज्ञान के कारण शरीर से आत्मसात् कर लेता है और आत्मसात् करने के फलस्वरूप शारीरिक सुख-दुःख को अज्ञानवश अपना (अर्थात्, अपनी आत्मा का) सुख-दुःख समझने लगता है, तबतक जीव बन्धन में पड़ा होता है। जैसे ही जीव को शरीर, ज्ञानेन्द्रिय इत्यादि का सही ज्ञान हो जाता है, उसी क्षण जीव शरीर के सभी दुःख-कष्ट से विमुक्त हो जाता है। उसी क्षण प्रकृति इस विश्व के रंगमंच को उस नर्त्तकी के समान छोड़ देती है, जो दर्शक को (जीव को) अपने नग्न शरीर का दर्शन करा लेने पर लज्जावश अन्तर्धान हो जाती है। यह है जगत् का प्रलय और जीव का अपवर्ग या मोक्ष। परन्तु, प्रश्न हो सकता है कि प्रकृति एकदम अचेतन है, तब क्यों सत्त्वगुण की प्रधानता की ओर प्रयास कर बुद्धि को विमल बनाकर जीवों के लिए विवेक-ज्ञान के हेतु प्रकृति प्रयास करती है? इस जड प्रकृति में उद्देश्य-पूर्णता कैसे स्पष्ट की जा सकती है? यहाँ सांख्य अचेतन प्रयोजनवाद को अपनाते हैं। जिस प्रकार गाय से बछड़े के लिए दूध निकलने की प्रक्रिया अचेतन रूप से सम्पादित होती है, उसी प्रकार जड प्रकृति जीवों के विमोक्ष के लिये प्रयत्न करती है। अतः, प्रकृति की कार्यवाही में भी अचेतन, परन्तु प्रयोजनपूर्ण क्रिया देखी जाती है। इसलिये, यहाँ भी सांख्य में यान्त्रिकवाद ही देखने में आता है। मोक्ष-ज्ञान प्राप्त करने के लिये भी जीव को अभ्यास करना पड़ता है—'मैं नहीं हूँ, मेरा कुछ नहीं है' इत्यादि। इस प्रकार के निरन्तर ध्यान करने के फलस्वरूप जीव शुद्ध पुरुष के रूप में केवल साक्षी हो जाता है, और फिर शारीरिक भोग-क्रियाओं को अपनी आत्मा से पृथक् और अन्य समझ कर मुक्त हो जाता है। अतः, न तो सृष्टि, न तो प्रलय और न मुक्ति के लिये सांख्य-दर्शन में कहीं भी सिद्धान्ततः ईश्वर का कोई स्थान पाया जाता है। यही कारण है कि हिरियाणा ने बताया है कि सूत्ररूप में सांख्यदर्शन निरीश्वरवादी है।[१] यह कोई आश्चर्य की बात नहीं है;

१. M. Hiriyanna, *The Samkhya,* The Cultural Heritage of India, Vol. III, p. 50.

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

क्योंकि वाचस्पतिमिश्र ने, जो स्वयं ईश्वरवादी थे, सांख्य पर टीका लिखते हुए सांख्य को निरीश्वरवादी माना है।

> सांख्य के अनुसार, अचेतन रहते हुए भी प्रकृति पुरुष की विमुक्ति के लिये उसी प्रकार प्रयत्नशील रहती है, जिस प्रकार बछड़े की विवृद्धि के लिये दुग्ध-प्रक्रिया सम्पादित होती है।

सांख्यकारिका के ५७वें सूत्र की व्याख्या करते हुए वाचस्पतिमिश्र ने पूछा—क्या कहा जा सकता है कि अन्तिम रूप में ईश्वर ने ही ऐसी व्यवस्था की है कि अचेतन दुग्ध-प्रक्रिया से बछड़ा पले तथा अचेतन प्रकृति के संचालन से जीव को मुक्तिज्ञान प्राप्त हो ? अब यदि ईश्वर का हाथ प्रकृति के संचालन में हो, तो यह चेतन होगा और चेतन प्रक्रिया में किसी उद्देश्य को रहना चाहिये। यहाँ दो ईश्वर के उद्देश्य बताये जा सकते हैं। या तो स्वयं ईश्वर का ही कोई निजी उद्देश्य होगा या उसने जीव के प्रति दया-दृष्टि से द्रवित होकर इस विश्व-व्यवस्था को उत्पन्न किया होगा। चूँकि, ईश्वर अपने में पूर्ण है, इसलिये स्वयं ईश्वर में ही कोई निहित उद्देश्य नहीं है, जिसकी पूर्त्ति के लिये विश्व-सृष्टि की जा सकती है। न जीवों के ही लिये सृष्टि की आवश्यकता है; क्योंकि सृष्टि के बाद ही जीव बद्ध हो जाते हैं और सृष्टि के पूर्व बद्ध जीवों की बात ही नहीं उठती है, तो उनके प्रति दया-दृष्टि का रहना भी अयुक्तिसंगत है।

अतः, वाचस्पति के अनुसार, सांख्य-दर्शन की मान्यता को आधारभूमि में निरीश्वरवाद को ही युक्तिसंगत माना जा सकता है, अर्थात् प्रकृति द्वारा सृष्टि, जीवों के द्वारा अपने ही प्रयास से अपवर्ग-प्राप्ति और अन्त में विवेकज्ञान के फलस्वरूप प्रलय। चूँकि अचेतन प्रकृति की सभी प्रक्रियायें पुरुष के ही संयोग से आरम्भ होकर संचालित होती हैं, इसलिए, सृष्टि के अचेतन रहने पर भी पुरुष की मोक्ष-प्राप्ति के निमित्त सृष्टि का संचालन होना संगत मालूम देता है।

वाचस्पति की इस टीका को माधव ने भी 'सर्वदर्शनसंग्रह' में अपनाया है। बाद में चलकर विज्ञानभिक्षु ने सांख्य-दर्शन को ईश्वरवादी बनाने का प्रयास किया है। उन्होंने बताया है कि सांख्य ने ईश्वर के अस्तित्व को असिद्ध माना

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

है, न कि ईश्वर का अभाव सिद्ध किया है। परन्तु, ईश्वर के अस्तित्व में दिये गये प्रमाणों को अयुक्ति-संगत मानना और फिर ईश्वर का अभाव मानना तर्क-बौद्धिक रीति से एक ही है। वास्तव में, विज्ञानभिक्षु का सुझाव समुचित नहीं है। सूत्ररूप में सांख्य-दर्शन में ईश्वर के अस्तित्व में दिये गये प्रमाणों का कहीं खण्डन नहीं किया गया है, ईश्वर की कल्पना को ही अनावश्यक सिद्ध कर दिया गया है। सांख्य-दर्शन में दिखाया गया है कि बिना ईश्वर-चर्चा के सम्पूर्ण विश्व और मानव-मुक्ति की बात की जा सकती है यहाँ ईश्वर को असिद्ध नहीं, वरन् ईश्वर की पूर्णउपेक्षा की गयी है। अतः, हम इस निष्कर्ष को अपना सकते हैं कि मूल रूप में सांख्य-दर्शन निरीश्वरवादी है।

योग-दर्शन :

सांख्य-योगदर्शन को एक साथ वर्णित किया जाता है; क्योंकि ये दोनों एक दूसरे के पूरक हैं। इन दोनों द्वैतवादी दर्शनों का तत्त्वमीमांसात्मक पक्ष सांख्य में और व्यावहारिक पक्ष योगदर्शन में पाया जाता है। इसमें सन्देह नहीं कि योग भारतीय संस्कृति की मुख्य मनोवैज्ञानिक देन है और इसे अनार्य उत्स का माना जाता है, जिसे बुद्ध भगवान् ने निर्वाण-प्राप्ति-मार्ग में विशेष रूप से व्यवस्थित किया था। इस समसामयिक काल में योग लगभग सभी दार्शनिक धाराओं का व्यावहारिक रूप माना जाता है। योग-दर्शन के प्रणेता पतंजलि मुनि माने जाते हैं। परन्तु, योग के प्राचीन इतिहास को देखते हुए पतंजलि को योग का मात्र सम्पादक अथवा संकलनकर्त्ता ही समझना सही कहलायेगा।

सांख्य के अनुसार, प्रकृति-पुरुष के पृथक्त्व की जबतक विवेक-ख्याति न हो जाय, तबतक अपवर्ग, अर्थात् कैवल्य (केवलपन)-प्राप्ति नहीं हो सकती है। जीव को, प्रकृति तथा शरीर से अपने को एकदम भिन्न समझकर अपने अकेलेपन को प्राप्त कर लेना चाहिये। इस दिशा में ध्यान के प्रति भी थोड़ा संकेत मिलता है। सांख्यकारिका के ६४वें सूत्र में लिखा हुआ है :

> एवन्तत्त्वाभ्यासान्नास्मि न मे नाहमित्यपरिशेषम्।
> अविपर्ययाद्विशुद्धकेवलमुत्पद्यते ज्ञानम्॥

'मैं नहीं हूँ और न मेरा कुछ है' इसपर अभ्यास करते रहने पर विशुद्ध ज्ञान प्रात कर लेने से कैवल्य प्राप्त हो जाता है। अब इसी विवेकख्याति को निश्चित रीति से प्राप्त करने के लिये योग की स्थापना की गयी है।

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

योग की परिभाषा देते हुए योगसूत्र १:२ में कहा गया है कि चित्तवृत्ति-निरोध को योग समझना चाहिये। साधारण शब्दों में बताया जा सकता है कि चित्त की सभी वृत्तियों का निरसन करने पर ही योग की कैवल्यावस्था प्राप्त हो सकती है। इसका कारण है कि सामान्य रूप से हमारी मानसिक प्रक्रियाओं का सम्बन्ध बाह्य और शारीरिक वस्तुओं से रहता है, जिन्हें सांख्य-योगदर्शन के अनुसार पुरुष से भिन्न और पृथक् मानना चाहिये। अतः, पुरुषत्व को प्राप्त करने के लिये इन सब मानसिक वृत्तियों का निरोध क्रमिक रूप में ही हो सकता है। इसी क्रम में उपनिषदों और वेदान्त में भी बताया गया है कि आत्मा को अन्नमय, प्राणमय इत्यादि रूप में नहीं स्वीकारना चाहिए।

सर्वप्रथम, योगी को, ज्ञानेन्द्रियों को अपनी नहीं मानना चाहिये। जब उसको इसका अभ्यास हो जाय, तब मानसिक प्रक्रियाओं को भी अपना नहीं समझना चाहिये। तीसरी अवस्था में अहंकार को भी अपना नहीं मानना चाहिये और इसी प्रकार ध्यान में अभ्यस्त होकर महत् अथवा बुद्धि से भी जीव को अपना पृथक्त्व-लाभ करना चाहिये। ऐसा ही योगी अन्त में शुद्ध साक्षिन् बनकर कैवल्य-पद को प्राप्त करता है। अतः, योग एक मनोवैज्ञानिक विधि है, जिसके आधार पर जीव सांख्य के निर्दिष्ट लक्ष्य की प्राप्ति कर लेता है। अब चूंकि सांख्य-दर्शन निरीश्वरवादी है, इसलिए, योग-क्रिया के अपनाने पर तो सांख्य-दर्शन के निरीश्वरवाद में किसी प्रकार का संशोधन नहीं चला आता है। इसके विपरीत योगक्रिया के द्वारा कैवल्य-ज्ञानप्राप्ति को निरीश्वरवादी मानवतावाद के रूप में देखा जा सकता है। बौद्ध-जैनदर्शन में इसी योगक्रिया के द्वारा बताया जाता है कि मानव बिना किसी पारलौकिक सत्ता के अपना निर्वाण-मोक्ष प्राप्त कर सकता है। फिर, पतंजलि के योगदर्शन में भी ईश्वर को बाह्यारोपित किया गया है।

स्वयं ईश्वर योग-क्रिया के द्वारा प्राप्त नहीं किया जाता है। योग-क्रिया को पूर्ण करने के लिये ईश्वर-भक्ति की बात कही गयी है। योग के आठ मार्ग बताये गये हैं : १. यम, २. नियम, ३. आसन, ४. प्राणायाम, ५. प्रत्याहार, ६. धारणा, ७. ध्यान और ८. समाधि। यम पांच हैं, और नियम भी पांच हैं। यम-नियमादि को योग के अंग या सहायक बताया गया है। यम में

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

पंचमहाव्रत का उल्लेख किया गया है, और नियम के अन्तर्गत गिना गया है—(क) शौच, (ख) सन्तोष, (ग) तपस्, (घ) स्वाध्याय और (ङ) ईश्वर-प्रणिधान, अर्थात् ईश्वर की भक्ति और ईश्वर को, अपने को अर्पण करना। ईश्वर-प्रणिधान को योगप्राप्ति, अर्थात् चित्तवृत्तिनिरोध का सहायक अंग माना गया है। योगसूत्र में पतंजलि ने 'ईश्वर-प्रणिधान' को चार स्थलों पर व्यवहार किया है : १ : २३, २ : १, २ : ३२ और २ : ४५। इसे दो विशेष अर्थों में प्रयुक्त किया गया है—ईश्वर-भक्ति और ईश्वर को अपने सभी कार्यों को अर्पित कर देना। इन दोनों अर्थों में ईश्वर-भक्ति को आगे चलकर प्रयुक्त किया गया है। शांकर अद्वैतवाद में ईश्वर-भक्ति को साधन माना गया है, और गीता में निष्काम कर्म को प्राप्त करने के लिये सभी कार्यों को ईश्वर को अर्पित करने का आदेश दिया गया है। अब जिस भी अर्थ में 'ईश्वर-प्रणिधान' को प्रयुक्त किया जाय, वह योगसाधना का आवश्यक अंग नहीं माना जा सकता है। योग-क्रिया का मुख्य उद्देश्य है कि सभी वृत्तियों चित्तवृत्तियों का शमन हो, अर्थात् शुद्ध चैतन्यपूर्ण पुरुष से सभी चित्तवृत्तियों को रिक्त किया जाय। इसमें ईश्वर-भक्ति को योग का साक्षात् विषय नहीं माना जा सकता है। अनासक्ति अवश्य चित्तवृत्ति-निरोध का अंग हो सकती है, और इस अर्थ में ईश्वर को सभी कार्यों को अर्पित करके जीव अनासक्त हो सकता है। परन्तु, इसे अन्य प्रकार के योग से स्वतन्त्र योग माना जायगा, जिसमें ईश्वर-प्राप्ति को चरम उद्देश्य मानकर अपने सभी कार्यों को ईश्वर के प्रति अर्पित किया जा सकता है। यह भक्ति-योग का मुख्य उद्देश्य माना जाता है, परन्तु इसे चित्तवृत्ति-निरोध नहीं कहा जायगा; क्योंकि ईश्वर-विचार, ईश्वर-कीर्त्तन आदि चित्त के अंग अक्षुण्ण रह जाते हैं। अतः, ईश्वर-प्रणिधान को सहायक साधन अवश्य माना जा सकता है। इस अर्थ में ईश्वर-प्रणिधान तीन रूप में सहायक सिद्ध हो सकता है।

१. ध्यान को एकाग्र तथा निरुद्ध करने के लिये क्षिप्त (चंचल वृत्ति), विक्षिप्त (वृत्ति-सन्तुष्टि से क्षणिक स्थिरता) तथा तमोगुणाश्रित मूढ वृत्तियों से मुक्त होना चाहिये। इस एकाग्रता की प्राप्ति में, एकाग्रता के प्रथम चरण में ईश्वर-भक्ति से कम-से-कम एक विषय, अर्थात् सभी वस्तुओं से ध्यान हटाकर ईश्वर पर ध्यान को अविचल रूप से स्थिर किया जा सकता है। इस रूप में ध्यान-एकाग्रता की प्राप्ति में

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

ईश्वर-प्रणिधान को एकाग्रता का प्रथम चरण माना जा सकता है। अतः, योगप्राप्ति के लिए यह प्राथमिक चरण माना जा सकता है।

२. फिर, चूँकि चित्त चंचल होता है, और चित्त को स्थिर करने के लिये किसी-न-किसी प्रतिमा पर चित्त को टिकाना पड़ता है, इसलिये, ईश्वर-प्रणिधान को निमित्तकर्म के रूप में काम में लाया जा सकता है।

३. चूँकि, ध्यान-प्रक्रिया बड़ी कठिन है, और योग-प्राप्ति भी दुस्साध्य है, इसलिये बिना ईश्वर के प्रसाद तथा अनुग्रह से योग सिद्ध नहीं हो सकता है। यहाँ ईश्वर-प्रणिधान से ईश्वर के अनुग्रह का दान प्राप्त होता है, और योगी अपनी सिद्धि को प्राप्त करता है।

परन्तु ईश्वर सहायक रूप में मानव का अन्तिम स्वलक्ष्य आराध्य देवता अथवा परम महत्त्व नहीं रहता है और इस रूप में ईश्वर को अपना स्थान नहीं मिलता है। फिर, यदि ईश्वर-प्रणिधान को सहायक भी माना जाय, तो इसे योग-क्रिया का सारभूत अंग नहीं समझना चाहिए; क्योंकि अन्त में चित्त-वृत्तिनिरोध ईश्वर-निरपेक्ष प्रक्रियाओं के आधार पर ही प्राप्त होता है। अतः, योगसिद्धि में ईश्वर-प्रणिधान बनावटी साधन माना जायगा। यदि ईश्वर-भक्ति को स्वतन्त्र मार्ग माना जाय, तो योगसिद्धि से इसका सम्बन्ध कुछ भी नहीं रह जायगा। अतः, हरिदास भट्टाचार्य का कहना है कि अध्याय १:२३-२९ तक के सूत्र बाहर से जोड़ दिये गये हैं और उन सूत्रों को हटा लेने पर योग-साधन-क्रियाओं के पाठ में कोई भी बाधा नहीं पड़ती है।[१] इस सन्दर्भ में गार्बे ने सही कहा है कि योगसूत्र में ईश्वर-चर्चा प्रसंगविहीन है। वास्तव में देखा जाय, तो ईश्वर-प्रणिधान का ईश्वर न तो सृष्टिकर्त्ता ही है, न जगत् का पालक-संहारक है और न वह जीवों का कर्मफलदाता है। अतः, योग का ईश्वर वास्तव में भारतीय ईश्वरवादी का ईश्वर नहीं है। केवल बनावटी रूप से 'ईश्वर' शब्द को जोड़कर इसे लोकप्रिय बनाने का उपाय रचा गया है।[२]

---

१. The Cultural Heritage of India, Vol. III, p. 87.

२. R. Garbe, Encyclopaedia of Religion and Ethics, XII, 831-2.

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

अतः, योगसूत्र का ईश्वर-विचार योगसिद्धि से परे है और इसलिये वस्तुतः योगसूत्र को भी निरीश्वरवादी कम-से-कम सिद्धान्ततः गिनना चाहिए।

न्याय-वैशेषिक-दर्शन :

न्यायसूत्र के रचयिता गौतम और वैशेषिक-दर्शन के रचयिता महर्षि कणाद गिने जाते हैं। महर्षि गौतम विहारी थे और शिव के पुजारी थे और इसी प्रकार महर्षि कणाद को पाशुपत कहा गया है।[1] अतः, इन दर्शनों में अनार्य निरीश्वरवाद का अंश होना स्वाभाविक समझा जायगा। न्यायदर्शन में अनुभववादी ज्ञानमीमांसा और वैशेषिक-दर्शन में अनुभववादी तत्त्वमीमांसा की व्याख्या की गयी है, इसलिये ये दोनों दर्शन मिलकर एक ही अनुभववादी परम्परा को स्थिर करते हैं।

यह ठीक है कि भारतीय ईश्वरवादी परम्परा में न्याय-वैशेषिक-दर्शन को विशेष माना जाता है और इसी दर्शन में ईश्वर के अस्तित्व का विस्तारपूर्वक प्रमाण दिया गया है। उत्तरकालीन न्याय-वैशेषिक-दर्शन ईश्वरवादी क्यों न माना जाय, परन्तु सूत्ररूप अथवा मूलरूप (आदिकालीन) में न्याय-वैशेषिक-दर्शन मूलतः निरीश्वरवादी है। उत्तरकालीन न्याय-वैशेषिक-दर्शन में ईश्वर के अस्तित्व के लिये तीन मुख्य प्रमाण दिये जाते हैं :

१. ईश्वर परमात्मा है।

२. ईश्वर वेदों का रचयिता है।

३. ईश्वर सृष्टिकर्त्ता और जीवों का कर्मफलदाता है।

हम देखेंगे कि आदिकालीन न्याय-वैशेषिक-दर्शन में इन तीनों बातों की उपेक्षा की गयी है।

सत्कारी मुखर्जी ने इस बात पर बड़ा आश्चर्य प्रकट किया है कि गौतम के अनुसार निम्नलिखित १६ पदार्थों के ज्ञान से जीव निःश्रेयस् प्राप्त कर

---

१. Gopinath Kaviraj, *Aspects of Indian Thought*, The University of Burdwan, p. 73.

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

लेता है : (१) प्रमाण, (२) प्रमेय, (३) संशय, (४) प्रयोजन, (५) दृष्टान्त, (६) सिद्धान्त, (७) अवयव, (८) तर्क (९) निर्णय, (१०) वाद, (११) जल्प, (१२) वितण्डा, (१४) हेत्वाभास, (१४) छल, (१५) जाति, (१६) निग्रह-स्थान।

परन्तु, इन विषयों में ईश्वर का कहीं भी उल्लेख नहीं किया गया है, जिसके द्वारा मुक्ति प्राप्त हो सकती है।[1] फिर, गौतम ने बताया है कि दुःख का कारण जन्म, प्रवृत्ति, दोष तथा मिथ्याज्ञान है। इसलिये, अपवर्ग-प्राप्ति के हेतु साधन-क्रम इस प्रकार बताया है। मिथ्याज्ञान को दूर करने के लिये दोषों को हटाना चाहिये; दोषों को हटाने के लिये प्रवृत्ति को दूर करना चाहिये और प्रवृत्तियों के विनाश के लिये जन्म की वासना का उच्छेद करना चाहिये। अतः, यहाँ बौद्ध मत के द्वादश निदान की पूर्वछाया या प्रतिच्छाया दिखायी देती है। इस क्रम के अनुसरण से अन्त में दुःख-विनाश अनायास हो जाता है। अतः, यह मुक्ति यान्त्रिक रीति से या मानव के अपने प्रयास से प्राप्त की जाती है और यहाँ भी ईश्वर के अनुग्रह की आवश्यकता नहीं प्रतीत होती है।

अपितु, सिद्धान्ततः न्यायसूत्र में ईश्वर को कोई स्थान नहीं दिया जा सकता है। इसका कारण है कि यदि स्वीकार किया जाय, कि उस वस्तु का ज्ञान प्राप्त हो सकता है, जो प्रत्यक्ष का विषय है, तो ईश्वर अशरीरी और प्रत्यक्ष का विषय नहीं होने के कारण ज्ञान अथवा प्रमा का विषय नहीं हो सकता है। यह निष्कर्ष पाश्चात्य विचार के अनुभववादी ऐहिकतावाद से सिद्ध हो गया है। परन्तु, स्वयं न्यायसूत्र में भी यह निहित है। सर्वप्रथम, प्रत्यक्ष को ही ज्ञान का आरम्भिक स्तम्भ माना गया है और फिर व्याप्ति-स्थापना में भी दृष्टान्त को मुख्य स्थान दिया गया है। अतः, यदि ईश्वर हो, तो वह या तो प्रत्यक्ष का विषय होगा या अनुमान का। परन्तु, इन दोनों में ही ईश्वर की साक्षात् अनुभूति की आवश्यकता हो जाती है और ईश्वर साक्षात् अनुभूति का विषय नहीं हो सकता है। अतः, अनुभववादी व्याख्या की दृष्टि से न्याय-वैशेषिक-दर्शन में ईश्वर का स्थान नहीं आता है।

---

१. S. Mookerjee, Nyaya-Vaisesika, The Cultural Heritage of India, Vol. III, p. 110.

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

फिर, चूंकि वैशेषिक तत्त्वमीमांसा में परमाणु, आकाश, दिक्-काल तथा आत्मा को नित्य माना गया है, इसलिये ईश्वर को परमाणुओं का व्यवस्थापक ही माना जा सकता है। इस रूप में अधिक-से-अधिक ईश्वर को निमित्त-कारण माना जायगा, न कि एकमात्र परम सत्, जिसने शून्यतः सृष्टि की है।

उत्तरकालीन न्याय-वैशेषिक-दर्शन में बताया गया है कि ईश्वर परमात्मा है, जो अन्य आत्माओं से भिन्न है और कहा जाता है कि गौतम के न्यायसूत्र में आत्मा में ही इस परमात्मा की भावना अन्तर्निहित है। परन्तु, जो कुछ महर्षि गौतम ने आत्मा के सम्बन्ध में कहा है, वह निर्विवाद रूप से साधारण आत्मा में ही लागू होता है, न कि परमात्मा के लिये। उन्होंने इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, सुख, दुःख और ज्ञान को आत्मा का लक्ष्य अथवा सारगुण माना है:

इच्छाद्वेषप्रयत्नसुखदुःखज्ञानानि आत्मनो लिङ्गम्।
(न्या०, सू० १।१।१०)

क्या सुख-दुःख को ईश्वर का सारलक्षण कहा जा सकता है? क्या ईश्वर में किसी बात की कमी होती है कि उसे प्राप्त करने के लिये उसे इच्छा और प्रयत्न की आवश्यकता होती है? इसलिये, आत्मा के अन्तर्गत ईश्वर-प्रत्यय अथवा परमात्मा की भावना निहित नहीं है। फिर, यह भी बात नहीं है कि गौतम को 'ईश्वर-प्रत्यय' का भान नहीं था। गौतम ने ईश्वर-भावना को ४।१।१९-२, तीन सूत्रों में प्रयुक्त किया है। कुछ टीकाकारों का कहना है कि ये सूत्र ईश्वर के अस्तित्व को सिद्ध करते हैं और अन्य टीकाकारों का कहना है कि इन सूत्रों से ईश्वर का अस्तित्व खण्डित होता है। इन सूत्रों की चर्चा बाद में की जायगी। परन्तु, यह स्पष्ट हो जाता है कि गौतम ने आत्मा और परमात्मा का भेद बताकर परमात्मा के अस्तित्व में कुछ भी युक्तियाँ प्रस्तुत नहीं की हैं। सम्भवतः गौतम ईश्वर के अस्तित्व को सिद्ध करने के लिये इच्छुक नहीं थे।

प्रायः ईश्वर को वेद का रचयिता स्वीकार किया जाता है, और इससे ईश्वर का भी अस्तित्व सिद्ध किया जाता है, अर्थात् बताया जाता है कि ईश्वर है; क्योंकि ऐसा वेदों में लिखा है और वेद को इसलिये प्रमाण माना जाता है कि ईश्वर-प्रदत्त है। यह भी कहा जाता है कि इसमें चक्रानुमान अथवा अन्योन्याश्रयी दोष नहीं है। ज्ञान-दृष्टि से प्रथम वेद आता है, परन्तु

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

तत्त्वदृष्टि से ईश्वर ही आदि आधार है। परन्तु, न्याय-वैशेषिकसूत्रों में कहीं भी न तो वेद को अपौरुषेय कहा गया है, और न इसे ईश्वर-प्रदत्त कहा गया है। जिस प्रकार मन्त्रशास्त्र तथा आयुर्वेद के वचन को आप्तवचन कहा जा सकता है, उसी प्रकार वेद-वचन को भी आप्तवचन स्वीकारा जा सकता है।

मन्त्रायुर्वेदप्रामाण्यवच्च तत्प्रामाण्यमाप्तप्रामाण्यात् ।

(न्या० सू०, २।१।६८)

दूसरे शब्दों में वेद के रचयिता ऋषि-मुनि हैं, न कि ईश्वर। इसी प्रकार से वैशेषिकसूत्र (२। १। १८) में बताया गया है कि वेदों को अति विद्वान् पुरुषों ने रचा है, जिन्हें अतीन्द्रिय वस्तुओं का ज्ञान था और फिर इसी प्रकार ४। ५। १-४ में बताया गया है कि वेदों को उन मनीषियों ने रचा है, जिन्हें सभी तथ्यों का वास्तविक ज्ञान था। अतः, न्याय-वैशेषिक-दर्शन के अनुसार ईश्वर के अस्तित्व को वेदों के द्वारा सिद्ध नहीं किया जा सकता है; क्योंकि वेदों को न तो अपौरुषेय माना जा सकता है, और न ईश्वर-प्रणीत समझा जा सकता है। इसलिए, प्रारम्भकालीन न्याय-वैशेषिक-दर्शन में ईश्वर को सिद्ध करने का प्रयास नहीं किया गया है।

अब यहाँ न्यायसूत्र के उन तीन सूत्रों (४। १। १९-२३) का उल्लेख किया जायगा, जिसके आधार पर उत्तरकालीन नैयायिकों ने ईश्वर के अस्तित्व को सिद्ध करने का प्रयास किया है।

ईश्वरः कारणं पुरुषकर्माफल्यदर्शनात् । (४।१।१९)

जीवों के कर्मों को फलहीन देखने पर ईश्वर को (सभी घटनाओं का) कारण मानना चाहिये।

न, पुरुषकर्माभावे फलनिष्पत्तेः । (४।१।२०)

ऐसा नहीं; क्योंकि विना जीवों के कर्म के अभाव में फल नहीं होता है।

तत्कारित्वादहेतुः । (४।१।२१)

आपत्ति व्यर्थ (अर्थात्, अहेतुक) है; क्योंकि (कारित्व) कर्मफल ईश्वर द्वारा उत्पन्न होता है।

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

अब इन तीनों सूत्रों का निश्चित अर्थ लगाना वहुत ही कठिन बात है। ईश्वरवादी का अर्थनिरूपण इस प्रकार है :

१. वहुधा ऐसा देखा जाता है कि जैसा मानव अपने कर्मों के फल को प्राप्त करना चाहता है, वैसा नहीं होता है। उदाहरणार्थ, अप्रैल-मई में मकई की खेती की और मकई काटने के पहले वाढ़ आ गयी। अतः, मानव अपने ही प्रयास से अपने कर्मों के फल को नहीं भोग पाता है।

२. यह भी ठीक है कि विना मानव-प्रयास के फल भी नहीं प्राप्त हो सकता है। उदाहरणार्थ, विना खेती किये अन्न नहीं उत्पन्न होता है।

३. अतः, मानव-प्रयास के साथ ईश्वर के अनुग्रह के रहने पर कर्मफल प्राप्त होता है। इस अर्थ में ईश्वर सर्वोपरि कर्मफलदाता अथवा अधिष्ठाता है और वह सभी मानवों के सम्पूर्ण संस्कारों का नियन्त्रक है। इस रूप में ईश्वर आदि-अन्तिम कारण है।

अनीश्वरवादी व्याख्या :

१. मानव अपने ही प्रयास से कर्मफल नहीं प्राप्त कर सकता है। इसलिये, अन्तिम रूप में ईश्वर ही को कर्मफलदाता मानना चाहिये।

२. ईश्वर को कर्मफलदाता नहीं मानना चाहिये; क्योंकि विना मानव-कर्म के फल नहीं होता है, अर्थात् जहाँ-जहाँ फल देखने में आता है, वहाँ-वहाँ मानव-कर्म भी देखने में आता है। अतः, कर्मफल केवल मानव-कर्म से ही प्राप्त हो सकते हैं।

३. परन्तु, यदि मानव-कर्म को केवल अवसर-मात्र माना जाय और ईश्वर को ही निरपेक्ष, परम और अन्तिम कारण माना जाय, तो इसका कोई प्रमाण नहीं दिखाई देता है। यहाँ (४।१।२१) का अनुवाद होगा; क्योंकि ईश्वर के द्वारा कारित्व का (अर्थात्, सभी घटनाओं तथा कर्म किये जाने के कार्य रूप का) कोई प्रमाण नहीं (अहेतु) है।

ईश्वरवादी और निरीश्वरवादी व्याख्याओं में निर्णय करना कठिन है। आगे चलकर नैयायिकों के द्वारा ईश्वर के अस्तित्व में दी गयी युक्तियों से उनके सूक्ष्म विश्लेषण तथा वाल की खाल निकालने का उदाहरण हमें प्राप्त

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

होगा, परन्तु यहाँ सत्कारी मुखर्जी का निष्कर्ष उल्लेखनीय है। इस विद्वान् आलोचक का कहना है कि गौतम के न्यायदर्शन में ईश्वर-प्रत्यय आवश्यक नहीं प्रतीत होता है। यही कारण है कि ईश्वर-प्रमाण के अन्तिम चरण (४।१।२१) को गुप्त रूप से बुझौवल में प्रयुक्त किया गया है। फिर, सत्कारी मुखर्जी का कहना है कि सृष्टि के उत्स के सन्दर्भ में गौतम ने ईश्वर के प्रसंग को बिना ईश्वरवादी उद्देश्य को ध्यान में रखकर ऐसे ही छेड़ दिया है।[१]

अतः, हम इस निष्कर्ष पर आते हैं कि सूत्ररूप आदिकालीन न्याय-वैशेषिक-दर्शन में ईश्वर को कोई महत्त्वपूर्ण स्थान नहीं दिया गया है। न तो ईश्वर को परमात्मा माना गया है और न सूत्रों में ईश्वर को वेदों का रचयिता कहा गया है। जो कुछ भी उत्तरकालीन न्यायसूत्र में ईश्वर-सम्बन्धी युक्ति समझी जा सकती है, उसे आदिकालीन न्याय-वैशेषिक-दर्शन में संशय से खाली नहीं माना जा सकता है।

जिस प्रकार से सांख्य-योग, न्याय-वैशेषिक-दर्शनों के आदिसूत्र में निरीश्वरवाद पाया जाता है, उसी प्रकार जैमिनि के मीमांसा-दर्शन में निरीश्वरवादी विचार अपेक्षाकृत उग्र रूप में देखा जाता है।

पूर्वमीमांसा-दर्शन में निरीश्वरवाद :

पहले ही बता दिया गया है कि निरीश्वरवाद कई प्रकार के होते हैं। सर्वप्रथम, निरीश्वरवाद ईश्वरवाद के समान तत्त्वमीमांसात्मक होता है। परन्तु, तत्त्व-मीमांसात्मक निरीश्वरवाद को उग्र निरीश्वरवाद नहीं कहा जायगा; क्योंकि इसमें समझा जाता है कि ईश्वर के अनस्तित्व में युक्तिपूर्ण तर्क प्रस्तुत किये जा सकते हैं। फिर, तत्त्वमीमांसक निरीश्वरवादी असाक्षात् रीति से ईश्वर के विषय में चिन्तन करता है। ऐसे निरीश्वरवादी के लिये ईश्वर संलग्नता का विषय होता है और इस रूप में निरीश्वरवादी ईश्वर के प्रति जागरूक और चिन्तनशील रहा करता है। पुनः, वह ईश्वर को संज्ञान का अथवा दार्शनिक चिन्तन का सार्थक विषय मानता है। इसके विपरीत दार्शनिक विश्लेषण अथवा समसामयिक अनुभववाद के अन्तर्गत निरीश्वरवाद को उग्रवादी कहा जाता है। इसका कारण है कि विश्लेषणवादी के लिये 'ईश्वर' निरर्थक विषय है। ऐसी

१. वही, पृ० १११-११२।

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

अवस्था में ईश्वर के अनस्तित्व के लिये युक्ति प्रस्तुत करना उतना ही निरर्थक प्रयास है, जितना ईश्वर के अस्तित्व के लिये तर्क प्रस्तुत करना निरर्थक प्रयास है। अतः, ईश्वर के विषय में कोई भी चर्चा करना सम्पूर्णतया अर्थहीन प्रयास है। परन्तु धार्मिक निरीश्वरवाद, जिसमें ईश्वर के प्रति तटस्थता अपनायी जाती है, विश्लेषणवादी निरीश्वरवाद की तुलना में उग्रतर कही जायगी। इसका कारण है कि दार्शनिक विवेचन शुष्क हुआ करता है। सम्पूर्णतया तटस्थ रहकर ही विचारक ईश्वर तथा किसी भी विषय का चिन्तन करता है। इसकी अपेक्षा धर्म मानव की सर्वांगपूर्ण तथा सर्वसमावेशी प्रक्रिया होती है और इसमें धार्मिक व्यक्ति की पूर्ण तन्मयता तथा संलग्नता रहती है। इस रूप में ईश्वरवादी ईश्वर को अपने सम्पूर्ण व्यक्तित्व के साथ, अर्थात् मनसा, वाचा और कर्मणा स्वीकार कर अपने को उसपर अर्पित कर देता है। परन्तु, यदि व्यक्ति धार्मिक स्तर पर भी ईश्वर को नहीं स्वीकार करे, तो वह ईश्वर के अनस्तित्व के लिये तर्क नहीं प्रस्तुत करेगा; न वह ईश्वर-प्रत्यय को ही अर्थहीन सिद्ध करने का प्रयास करेगा। वह ईश्वर के प्रति तटस्थ और उदासीन रहेगा। ऐसे निरीश्वरवादी के लिये ईश्वर किसी भी सोच-विचार तथा कल्पना का विषय नहीं होता है। धार्मिक निरीश्वरवाद में ईश्वर व्यक्ति के ज्ञान, संकल्प तथा भाव का कोई भी विषय नहीं होता है। यह बात बुद्ध भगवान् के विषय में कही जा सकती है और यही बात पूर्वमीमांसा के प्रसंग में भी कही जा सकती है। अतः ईश्वर के प्रति तटस्थता को उग्र निरीश्वरवाद कहा जायगा और मीमांसा में ईश्वर के प्रति तटस्थता अपनाने में ये निम्नलिखित कारण प्रस्तुत किये जा सकते हैं।

उत्तरकालीन न्याय-वैशेषिक-दर्शन में ईश्वर को सृष्टिकर्त्ता माना जाता है। परन्तु, मीमांसा के अनुसार सृष्टि को अनादि और अनन्त माना गया है। अतः, तर्कतः मीमांसा में सृष्टिकर्त्ता की आवश्यकता ही नहीं उठती है और इसलिये, सृष्टिकर्त्ता के रूप में ईश्वर को अनावश्यक समझा जाता है। द्वितीय, न्याय में वेद को 'पौरुषेय' कहा गया है और उत्तरकालीन न्याय-वैशेषिक-दर्शन में बताया गया है कि ईश्वर ही वह पुरुष है, जिसने वेद की रचना की है। परन्तु, मीमांसा में वेद को 'अपौरुषेय' कहा गया है और बताया गया है कि वेद स्वयं अनादि और अनन्त हैं और किसी भी ऐसे व्यक्ति के विषय में यह नहीं कहा गया है कि उसने वेदों की रचना की है। यदि वेद 'अपौरुषेय' हो, तो

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

वेद-रचयिता के रूप में ईश्वर को स्वीकारना प्रसंगहीन है। फिर, ईश्वरवादी ईश्वर को कर्मफलता अथवा जगन्नियन्ता के रूप में स्वीकार करते हैं। इसके विपरीत मीमांसा में अदृष्ट अथवा अपूर्व के सिद्धान्त को अपनाया जाता है। अपूर्व सिद्धान्त के अनुसार कर्म और फल के बीच नित्य और अटूट सम्बन्ध है और कर्म से फल विना किसी अपवाद के अपनी ही कर्मशक्ति से उत्पन्न होते हैं। इस कर्म और फल के बीच किसी की भी अपेक्षा नहीं रहती है। ईश्वर के अनुग्रह से भी दुष्टकर्म का फल मिटाया नहीं जा सकता है। अतः, इस कर्मवादी यन्त्रवाद में ईश्वर अथवा किसी भी पारलौकिक शक्ति की आवश्यकता नहीं अनुभूत की जा सकती है। ये ही कारण हैं, जिनके आधार पर मीमांसा में ईश्वर को अनावश्यक माना गया है।

यहाँ एक बड़ी आपत्ति उठायी जा सकती है। मीमांसा में वेदों को सर्वोच्च सत्ता स्वीकारा जाता है और वेदों में ईश्वर-तुल्य इन्द्र, वरुण, अग्नि आदि देवताओं की स्तुति की जाती है। तो क्या प्रजापति, विश्वकर्मा आदि देवताओं के अस्तित्व को नहीं स्वीकारा जाता है? मीमांसक देवी-देवताओं को काल्पनिक मानते हैं, या उन्हें दन्तकथा के रूप में समझते हैं। वे देवताओं के देवत्व को स्वीकार नहीं करते हैं। तो प्रश्न हो सकता है कि स्वतःप्रमाण वेद में देवताओं की चर्चा क्यों की गई? क्यों कहा गया है कि देवताओं को हवि तथा यज्ञ अर्पित किया जाता है? इस स्थल पर मीमांसक का मत उल्लेखनीय है। मीमांसा कर्मकाण्डी दर्शन है। इसके अनुसार, विहित मन्त्रों के अनुष्ठान से इष्ट फल अवश्य ही प्राप्त होगा। इसलिये, देवताओं का आह्वान इसीलिये किया जाता है, ताकि इन्हें क्रिया-कर्म करने का अवसर-मात्र माना जाय। देवता वास्तव में केवल शब्द-मात्र हैं और इनसे किसी प्रकार की सत्ता का भान नहीं होता है। देवता न तो कर्म का फल रोक सकते और न फल को विकृत कर सकते हैं। तो भी यहाँ कहा जा सकता है कि यदि देवता काल्पनिक हैं और यज्ञकर्म में इनका कोई हाथ नहीं रहता है, तो इनका आह्वान क्यों किया जाता है और इनका नाम ही क्यों लिया जाता है? इसके प्रत्युत्तर में मीमांसा का कहना है कि मन्त्रों को प्रशस्ति-वाक्य के रूप में ही देवताओं का नाम लिया जाता है। वास्तव में मन्त्रों की, न कि देवताओं की स्तुति की जाती है। इसके साथ-साथ मीमांसकों का कहना है कि मन्त्रों के अनुसार कर्मविधि में मनोवैज्ञानिक अनुप्रेरणा प्राप्त करने के लिये ही देवताओं

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

का नाम लिया जाता है। यह बड़ी उल्लेखनीय बात है। आर० वी० ब्रेथवेट के अनुसार धार्मिक अभिकथनों का अर्थ कार्यनीति ही है, परन्तु इसे कार्यान्वित करने के लिये ईश्वर-रूपी देवकथाओं की आवश्यकता इसलिये होती है कि इन कथाओं के सुनने अथवा इनकी दुहाई देने से कार्य-नीति को सम्पादित करने में मनोवैज्ञानिक अनुप्रेरणा प्राप्त होती है। इसी प्रकार की बात देवता-स्तुति को मन्त्र-प्रशस्तिवाक्य मानने में दिखाई देती है। न तो देवता वास्तविक हैं और न उनकी कथायें ही ऐतिहासिक घटनायें हैं, परन्तु उनके नाम लेने तथा उनकी कथाओं के द्वारा मन्त्र की प्रशस्ति होती है, अर्थात् उनके अनुसार कर्म-विधि में मनोबल प्राप्त होता है।

मीमांसक केवल ईश्वर के प्रति तटस्थ ही नहीं रहे हैं, वरन् मीमांसा के प्रारम्भिक समालोचक शवर और कुमारिल भट्ट ने ईश्वर-विरोधी युक्तियों को कुशलतापूर्वक प्रयुक्त किया है। यहाँ कुमारिल के द्वारा श्लोक-वार्त्तिक के आधार पर ईश्वर के अस्तित्व में प्रस्तुत तर्कों का सामान्य खण्डन उदाहरणार्थ दिया जा सकता है।

कुमारिल के अनुसार यदि मान लिया जाय कि सृष्टि एक कालिक क्रिया है, तो इससे बोध होता है कि किसी एक निश्चित कालविशेष में ईश्वर ने इस विश्व की रचना की है। परन्तु, सृष्टिकाल के पूर्व इस ईश्वर के विषय में किसी भी प्रकार की विश्वसनीय चर्चा नहीं की जा सकती है। सृष्टि के पहले, नासदीयसूक्त (ऋग्वेद, १० : १२९।५-७) के अनुसार, देवता भी इस भेद को नहीं जान सकते हैं; क्योंकि उनकी भी उत्पत्ति बाद में हुई। ऐसी स्थिति में, कुमारिलभट्ट के अनुसार, सृष्टि के पूर्व ईश्वर का कोई भी विश्वसनीय वर्णन नहीं दिया जा सकता है।

फिर, सृष्टिकर्त्ता या तो शरीरी होगा या अशरीरी। यदि सृष्टिकर्त्ता को शरीरी मान लिया जाय, तो शरीरी अनेक तत्त्वों (साधारणतया पंचतत्त्व) से बना माना जाता है। चूँकि शरीर संस्कृत अथवा यौगिक रचना है, इसलिये इसे नित्य नहीं कहा जायगा। अतः, शरीरी ईश्वर की शरीर-रचना की व्याख्या के लिये किसी अन्य शरीरी सृष्टिकर्त्ता की आवश्यकता होगी और द्वितीय सृष्टिकर्त्ता की सृष्टि के लिये तृतीय स्रष्टा की आवश्यकता होगी और इस प्रकार से इसमें अपरिमित प्रतीपगमन, अर्थात् अनवस्था (Regressus

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

ad infinitum) का दोष चला आयेगा। परन्तु, यदि ईश्वर शरीरी न हो और उसे शुद्ध आत्मा मान लिया जाय, तो उसके सृष्टिकर्तृत्व में किस प्रकार का दोष आ सकता है ?

कुमारिलभट्ट के अनुसार बिना शरीर के वासनायें और किसी भी प्रकार का कृतिभाव नहीं उत्पन्न हो सकती है। अतः, अशरीरी ईश्वर को सृष्टि-रचना की भी कोई इच्छा नहीं उठ सकती है। इसलिये अशरीरी ईश्वर सृष्टिकर्त्ता नहीं हो सकता है। अपितु पूर्ण ईश्वर को किस कमी को पूरा करने के लिये सृष्टि की आवश्यकता पड़ गयी ? यदि ईश्वर को किसी बात की कमी होगी, तो उसे पूर्ण नहीं कहा जायगा और यदि वह पूर्ण हो तो, सृष्टि-रचना का उद्देश्य नहीं हो सकता है। इस स्थल पर बताया जाता है, कि ईश्वर अपनी कमी को पूरा करने के उद्देश्य से सृष्टि नहीं करता है। परन्तु जीवों के प्रति करुणा से द्रवित होकर सृष्टि करता है। परन्तु, कुमारिल ईश्वरवादी के इस प्रत्युत्तर से सन्तुष्ट नहीं होते हैं। कुमारिल का कहना है कि सृष्टि के पूर्व कोई जीव नहीं था,—न बद्ध, न मुक्त और न बन्धन-मुक्ति से परे किसी अन्य प्रकार का जीव था। तब अनुत्पन्न अथवा अवास्तविक जीवों के प्रति करुणा-भाव कैसा ? फिर, यदि पूर्वज्ञान से प्रभावित होकर, जीवों के प्रति करुणा से द्रवित होकर सृष्टि की रचना करते, तो वे इस विश्व को अशुभ क्यों बनाते ? उन्होंने आनन्दमय जीवों की सृष्टि शुभ विश्व में क्यों नहीं की ? यदि ईश्वरवादी इस आपत्ति का खण्डन करते हुए कहें कि बिना अशुभ के विश्व की सृष्टि नहीं हो सकती है; क्योंकि सृष्टि के साथ अपूर्णता और कमी आ ही जाती है। यहाँ कुमारिल पाश्चात्य विश्लेषणवादी फ्लू और मैकी[1] के समान कहते हैं कि यदि ईश्वर परम शुद्ध और सर्वशक्तिमान् है, तो उसके संकल्प के अनुसार घटना के होने में किस प्रकार की अड़चन हो सकती है ? अतः, सभी प्रकार के अशुभों से पूर्ण इस विश्व का सृष्टिकर्ता ईश्वर नहीं हो सकता है। परन्तु, क्या नहीं कहा जा सकता है कि ईश्वर ने इस विश्व की रचना अपनी कार्य-शक्ति (जिसको लीला की संज्ञा दी जाती है) के अधार पर की है ? 'लीला' का दो अर्थ हो सकता है, अर्थात् स्वलक्ष्य क्रीडा तथा रहस्यमय कृति। यदि लीला से

१. देखें, या० मसीह, समकालीन धर्मदर्शन, अध्याय ५, पृ० १४१—१४८।

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

अभिप्राय क्रीडा हो, तो ईश्वर को अपूर्ण माना जायगा; क्योंकि क्रीडा की आवश्यकता को अनुभूत करनेवाले व्यक्ति को शान्त, पूर्ण तथा आत्माश्रयी नहीं माना जा सकता है। परन्तु यदि 'लीला' का अर्थ रहस्यमय कृति हो, तो ऐसी अवस्था में ईश्वर युक्ति का विषय नहीं होता और न दर्शन का।

अन्त में, प्रश्न किया जा सकता है। क्या ईश्वर ने विश्व की सृष्टि शून्य से की है, या पूर्वस्थित उपादानों से ? यदि ईश्वर पूर्वस्थित सामग्रियों से इस विश्व की रचना करता है, तो वह विश्व का निमित्तकारण होकर पूर्वस्थित सामग्रियों से सीमित हो जाता है और यदि वह शून्यतः स्रष्टा होता है, तो इस वाक्यांश का क्या अभिप्राय हो सकता है ? प्रायः ईश्वरवादी इस सन्दर्भ में वताते हैं कि ईश्वर अपने अन्दर की अन्तर्निहित शक्ति से उसी प्रकार शून्यतः सृष्टि करते हैं, जिस प्रकार मकड़ा अपने अन्दर के स्राव से जाल रचता है। परन्तु, कुमारिल का कहना है कि मकड़े में अन्तर्निहित स्राव अन्त में देखा जाय, तो मकड़े द्वारा कीड़ों के खाने से उत्पन्न होता है। अन्तिम रूप स्राव वाह्य सामग्रियों पर आधृत रहता है। अतः, कुमारिल शून्यतः सृष्टि को नहीं स्वीकार करते हैं।

आगे चलकर भारतीय दर्शन में ईश्वरवादी युक्तियों की चर्चा तथा उनके खण्डन का उल्लेख विस्तारपूर्वक दिया जायगा। यहाँ इतना ही भर दिखाया गया है, कि मीमांसा-दर्शन में तर्कतः ईश्वर की आवश्यकता नहीं पायी जाती है और ईश्वर को अनावश्यक मानकर मीमांसा के प्रारम्भिक समालोचकों ने ईश्वर-विरोधी युक्तियाँ प्रस्तुत की हैं। छः आस्तिक दर्शनों में से ५ दर्शनों के आदिकालीन चिन्तन में ईश्वर का स्थान नहीं पाया जाता है। क्या यही बात उत्तरमीमांसा अथवा वेदान्त में भी लागू होती है ?

अद्वैत वेदान्त :

जिस प्रकार का निरीश्वरवादी सांख्य तथा मीमांसा में पाया जाता है, उस प्रकार का निरीश्वरवाद वेदान्त में नहीं पाया जाता है। परन्तु, वेदान्त में भी सिद्धान्ततः निरीश्वरवाद देखा जाता है। यदि ईश्वर वह पारलौकिक सत्ता माना जाय, जो परम सत्, सर्वज्ञ तथा सर्वतः शुभ है, तो

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

ईश्वर को अन्तिम सत्ता न स्वीकार करने पर इस प्रकार के ईश्वर को नकारने के बराबर ही माना जायगा। फिर, यदि ईश्वर उपास्य सत्ता हो, तो उसे अवश्य ही व्यक्तित्वपूर्ण माना जायगा। परन्तु, यदि ईश्वर की व्यक्तित्वपूर्णता नकारी जाय, तो ईश्वर की उपास्यता समाप्त हो जायगी और ऐसी दशा में भी ईश्वर को नकारने के बराबर ही माना जायगा। तीसरी बात है कि ईश्वरवाद के लिये ईश्वर के अस्तित्व को युक्तिपूर्ण होना चाहिये। यदि ईश्वर बुद्धिगम्य न हो, तो वह आस्था का विषय होगा और आस्था के विषय को स्वतन्त्र सत्ता कहना कठिन है। परन्तु, इसकी चर्चा अभी आगे की जायगी। इतनी भूमिका के साथ वेदान्त-दर्शन में निरीश्वरवाद के स्थान को निश्चित किया जा सकता है।

वेदान्त न तो सरल है, और न अल्पकालीन दर्शन है। यह भारत का अतिसमादृत तथा गहन दर्शन है। जो यहाँ कहा जा रहा है, वह सम्पूर्णतया पर्याप्त नहीं कहा जायगा। परन्तु, तो भी हमारा अध्ययन भ्रामक नहीं कहा जायगा। यहाँ वेदान्त-दर्शन को निरीश्वरवादी दृष्टि से देखा जा रहा है।

वेदान्त की जड़ उपनिषदों में है, जिनमें ईश्वर को सृष्टिकर्त्ता तथा व्यक्तित्वपूर्ण भी माना गया है। साथ-ही-साथ स्वीकार किया गया है कि ईश्वर परम सत् निर्गुण और निराकार है। इन दोनों पक्षों को वेदान्त-दर्शन में पाया जाता है, किसी में ईश्वरवादी और किसी में निर्वैयक्तिक पक्ष पर अपेक्षाकृत अधिक बल दिया जाता है। निर्गुणवादी परम्परा में शांकर अद्वैत को प्रमुख माना जाता है, और भक्ति-परम्परा में रामानुज के विशिष्टाद्वैत को विशेष स्थान दिया जाता है। चाहे शांकर अद्वैतवाद हो, चाहे रामानुजी विशिष्टाद्वैत हो, दोनों में स्वीकार किया जाता है कि ईश्वर तर्कबुद्धि के द्वारा नहीं प्राप्त किया जाता है। दोनों परम्पराओं के अनुसार ईश्वर का अस्तित्व श्रुतिसिद्ध माना जाता है। अतः, ईश्वर आस्था का विषय कहा जायगा, न कि युक्ति का। परन्तु, यदि किसी को ईश्वर में तथा श्रुति में आस्था न हो, तब ऐसी दशा में ईश्वर के अस्तित्व को किस प्रकार स्वीकारा जायगा ? इस सन्दर्भ में वेदान्तियों ने हमारे सामने सुझाव प्रस्तुत नहीं किया है। इनके अनुसार प्रत्येक उद्बुद्ध मानव में अन्तःप्रेरणा होती है, जिसके आधार पर वह अपनी अन्तिम सत्ता को प्राप्त करने के लिये बेचैन हो

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

जाता है, और ऐसी अवस्था में ईश्वर आस्था का विषय होगा। परन्तु, बौद्धों और जैनों का क्या होगा, जिन्हें ईश्वर के प्रति कोई आस्था नहीं होती है? वेदान्ती जैनों और बौद्धों की भर्त्सना कर सकते हैं, परन्तु इस युग में दार्शनिक जैनों और बौद्धों को भी मुमुक्षु कहेंगे और उनकी निःश्रेयस्-प्राप्ति के प्रयास की प्रशंसा ही करेंगे। फिर, यह प्रश्न समसामयिक काल का भी है। इस वैज्ञानिक युग में पाश्चात्य व्यक्तियों को किसी भी आधिदैविक अथवा पारलौकिक सत्ता में आस्था होना कठिन हो गया है। ऐसी अवस्था में उन्हें अज्ञानी कहकर उनकी समस्याओं का समाधान न करना दार्शनिक दृष्टिकोण से अनुचित समझा जायगा। अतः, आस्था के आधार पर ईश्वर के अस्तित्व को स्वीकारना तर्कसंगत नहीं कहा जायगा। ऐसी अवस्था में इतना ही भर कहा जा सकता है कि आस्था के सभी विषय सापेक्ष हैं। जो एक व्यक्ति का आस्था-विषय है, वह सम्भवतः अन्य व्यक्तियों के लिये मान्य और उपयोगी न हो। शांकर अद्वैत वेदान्त में बहुत दूर तक सापेक्षता-सिद्धान्त को अपनाया गया है, परन्तु इस सापेक्षता-सिद्धान्त को स्वयं निरपेक्ष सत्ता परमब्रह्म के सन्दर्भ में स्वीकार नहीं किया गया है। परन्तु, जहाँ आस्था को स्वीकार किया जायगा, वहाँ सापेक्षता को भी स्वीकार करना पड़ेगा। ऐसी अवस्था में ईश्वर को एकमात्र, अनन्य परम सत्ता समझना न्यायसंगत नहीं ठहरेगा। अतः, आस्था-सिद्धान्त में ईश्वर की अनन्यता तथा उसके परम सत् में बट्टा लग जाता है और इस रूप में वेदान्त में भी तर्कतः निरीश्वरवाद चला आता है।

दूसरी बात है कि शांकर अद्वैतवाद में ईश्वर को परम सत् नहीं स्वीकारा गया है। पारमार्थिक जगत् को ही परम सत् माना गया है; क्योंकि पारमार्थिक दृष्टि का किसी भी उच्चतर अनुभूति के द्वारा खण्डन नहीं किया जा सकता है। लौकिक रूप में व्यावहारिक जगत् को प्रातिभासिक जगत् की अपेक्षा अधिक मान्य समझा जायगा। परन्तु, व्यावहारिक जगत् की अनुभूति तभी तक स्वीकार की जायगी, जबतक पारमार्थिक अनुभूति नहीं प्राप्त होती है। शांकर मत के अनुसार ईश्वर भी व्यावहारिक रूप से सत्य होता है। परन्तु, केवल एक निर्गुण, निर्विकार परमब्रह्म ही एकमात्र पारमार्थिक सत्ता है, और ब्रह्मप्राप्ति ही एकमात्र जीवन का परम उद्देश्य है। यह ब्रह्मज्ञान से सम्भव हो सकती है। यह ब्रह्मज्ञान अतिकठिन साधना है। इसलिये साधन के रूप में व्यावहारिक

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

दृष्टि के आधार पर ईश्वर के अनुग्रह की आवश्यकता होती है, ताकि ईश्वर-अनुग्रह से मुमुक्षु की ज्ञान-चक्षु खुल जाय, उसकी बुद्धि परिष्कृत हो जाय और वह ब्रह्मज्ञान का अधिकारी हो जाय। अतः, ईश्वरोपासना ब्रह्मज्ञान-प्राप्ति का केवल साधन है। शांकर अद्वैतवाद में ईश्वर को अन्तिम सत्ता नहीं स्वीकारा जाता है। जिस प्रकार पारमार्थिक ज्ञान के प्राप्त हो जाने पर जगन्मिथ्या मालूम देने लगता है और नानात्व का विलोपन हो जाता है, उसी प्रकार ब्रह्मप्राप्ति में ईश्वर का भी विलयन हो जाता है। अतः, शांकर अद्वैतवाद में ईश्वर को न तो जीवन का परम लक्ष्य ही माना गया है और न ईश्वर को परम सत् के ही रूप में स्वीकारा गया है। इस रूप में ईश्वर को नकारा ही जायगा। अतः, शांकर अद्वैतवाद में परम्परागत ईश्वरवाद का निषेध होता है और इतनी दूर तक इसे निरीश्वरवादी कहा जायगा।

इस सन्दर्भ की अन्तिम बात यह है, कि यदि ईश्वर है, तो वह अवश्य उपास्य होगा और यदि ईश्वर उपास्य होगा, तो ईश्वर को भी अपने भक्तों के प्रति अनुक्रियाशील होना चाहिये, अर्थात् उसे भक्तों की सुधि लेनी चाहिये, उनके आर्त्त-क्रन्दन को सुनने की क्षमता होनी चाहिये इत्यादि। केवल व्यक्तित्वपूर्ण सत्ता ही सुधि ले सकती, बातों को समझ सकती, आर्त्त क्रन्दनों के अनुरूप कार्य कर सकती है इत्यादि। इसलिये उपास्य ईश्वर को व्यक्तित्वपूर्ण होना चाहिये, परन्तु शांकर अद्वैतवाद में ईश्वर को गुणातीत अनिर्वचनीय तथा निर्गुण बताया गया है। अतः, अद्वैतवाद में सगुण ब्रह्म अथवा ईश्वर गौण ही नहीं रहता है, परन्तु परम ब्रह्म भी व्यक्तित्वहीन सत्ता माना जाता है और निर्वैयक्तिक रहने के कारण शांकर अद्वैतवाद में परम ब्रह्म उपास्य नहीं कहा जा सकता है। इस रूप में भी शांकर अद्वैतवाद में ईश्वर का कोई स्थान नहीं रहता है। पर, क्या रामानुज के विशिष्टाद्वैतवाद में भी किसी प्रकार का निरीश्वरवाद पाया जाता है?

इस पुस्तक में यह नहीं दिखाने का प्रयास किया जा रहा है कि भारतीय धर्मदर्शन निरीश्वरवादी है। यहाँ दो निष्कर्षों पर ही बल दिया जा रहा है, अर्थात्,

१. आदिकालीन भारतीय धर्मदर्शन मुख्यतः निरीश्वरवादी है। यहाँ स्वीकार किया जा रहा है कि उत्तरकालीन भारतीय दर्शन में ईश्वरवाद विशेष रूप से पाया जाता है।

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

२. शंकर और रामानुज, दोनों ही विश्व-विख्यात भारतीय दार्शनिक हैं। परन्तु, ये दोनों उत्तरकालीन दार्शनिक हैं, न कि आदिकालीन। शंकर का समय आठवीं-नवीं शताब्दी (जन्म : लगभग ७८८ ईसवी) माना जाता है और रामानुज का समय ११वीं शताब्दी (जन्म : सन् १०२७ ई०) बताया जाता है। ऐसी अवस्था में इनके दर्शन में सेश्वरवादी परम्परा आ गयी थी और इन दोनों में द्राविड़-भक्ति का बड़ा स्थान है। स्वयं शंकर ने 'चर्पटपञ्जरिकास्तोत्रम्' में महादेव आदि देवताओं का स्तुतिगान किया है। फिर, रामानुज को भक्तिदर्शन-शिरोमणि गिनना ही चाहिये। परन्तु, उल्लेखनीय बात है कि अनार्य तथा प्राग्वैदिक समाधि, ध्यान तथा योग में अन्तर्निहित निरीश्वरवादी एकत्ववाद का प्रभाव भी पूरा पड़ा है। रामानुज के दर्शन में भी ईश्वर को विश्व का अन्तर्वर्त्ती अन्तर्यामिन् माना गया है। अब रामानुज ने ईश्वर को व्यक्तित्वपूर्ण सत्ता स्वीकार किया है। परन्तु, व्यक्तित्व की तार्किक अभ्यर्थना है कि वह किसी अन्य वस्तु में अन्तर्व्याप्त नहीं हो सकता है। परन्तु, रामानुज ने विश्व को ईश्वर का शरीर और ईश्वर को इस विश्व का अन्तर्यामिन् माना है। इस स्थिति में या तो स्पिनोज़ा के समान सम्पूर्ण सत्ता को ईश्वरमय माना जाय, या ईश्वर को अन्तर्यामिन् नहीं कहा जाय। सर्वेश्वरवाद में ईश्वर को नकारा जाता है और यदि ईश्वर को अन्तर्यामिन् न माना जाय, तो ईश्वर और प्रकृति का द्वैतवाद हो जायगा, जिसे भी रामानुज नहीं स्वीकार कर सकते हैं। अतः, रामानुज में सर्वेश्वरवादी निरीश्वरवाद अवश्य अन्तर्ध्वनित होता है। परन्तु, भक्ति-परम्परा की बात बाद में की जायगी। यहाँ इतना ही भर दिखाया गया है कि भारतीय धर्मदर्शन में निरीश्वरवाद का प्रमुख स्थान है। यह भारतीय धर्मदर्शन की कमी नहीं, वरन् विश्व को यह इसकी मुख्य देन है। यह इस बात का भी द्योतक है कि भारतीय विचारक निर्भीक और स्वतन्त्र चिन्तक थे और उनके विचारों में मानवतावाद विशेष रूप से विद्यमान था, अर्थात् मानव अपने ही स्वतन्त्र प्रयास से, बिना आधिदैविक शक्तियों को स्वीकार किये हुए अपना संवर्धन अथवा निःश्रेयस् प्राप्त कर सकता है। इन बातों को जैन, बौद्ध तथा शांकर धर्मदर्शन की पृथक्-पृथक् व्याख्या करके पुष्ट किया जायगा।

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

अध्याय ४

निरीश्वरवादी जैन धर्मदर्शन

भारतीय धर्मदर्शन का स्वरूप : प्राय: 'दर्शन' से लोग तात्पर्य वताते हैं कि वह शास्त्र, जिसके अध्ययन के फलस्वरूप तत्त्व का दर्शन अथवा साक्षात्कार हो जाय। चूँकि भारतीय दर्शन में तत्त्वविज्ञान को विशेष स्थान दिया जाता है, इसलिये दर्शन के इस अर्थ को ठुकराया नहीं जा सकता है। फिर, चूँकि 'दर्शन' से देखने की प्रक्रिया की विशेष ध्वनि होती है और सभी प्रकार के इन्द्रियानुभव में देखना सबसे अधिक स्पष्ट और प्रामाणिक माना जाता है, इसलिये इससे 'साक्षात्कार' अर्थ देखा-देखी का अर्थ लगाया जा सकता है।

यद्यपि 'दर्शन' से तत्त्वों का अथवा परम सत्ता का साक्षात्कार सही माना जायगा, तो भी इस अर्थ से कुछ भ्रान्ति उत्पन्न हो सकती है। 'साक्षात्कार' से तत्त्वों की वास्तववादी स्वतन्त्रता का बोध हो सकता है और साथ-ही-साथ दार्शनिक अथवा द्रष्टा के तटस्थ रहने का अर्थ अभिव्यंजित हो सकता है। परन्तु, भारतीय दर्शन के अनुसार दर्शन के अध्ययन से स्वयं द्रष्टा में ही अन्तर होना चाहिये—स्वयं उसके ही अज्ञान को दूर होना चाहिये और इस अज्ञान के आवरण से मुक्त होने पर उसमें दिव्यज्योति आनी चाहिये, जिसके फलस्वरूप दार्शनिक को सभी वस्तुयें तथा उनमें अन्तर्निहित तत्त्वों को उनके असली रूप में दिखना चाहिये। इस अर्थ में 'दृष्टि' अथवा सर्वसमावेशी दृष्टि को ही दर्शन का सही गुणबोध समझना चाहिये। यही कारण है कि जैन और बौद्ध दर्शन में सम्यग्दृष्टि-मिथ्यादृष्टि का उल्लेख किया गया है। तत्त्वज्ञान के हो जाने पर स्वयं द्रष्टा में ही सबसे बड़ा परिवर्त्तन हो जाता है। वह बद्ध जीव से मुक्त, बुद्ध और शुद्ध हो जाता है। जैन दर्शन के अनुसार जीव सर्वज्ञ शुद्ध चैतन्यपूर्ण आत्मा का अपना स्वरूप ग्रहण कर लेता है। उसी प्रकार सांख्य-योग के अनुसार जीव प्रकृति को अपने से एकदम पृथक् मान लेने पर सभी प्रकार के शरीरधारियों के दैविक, आधिदैविक तथा भौतिक दुःखों से निवृत्त हो जाता है, और शांकर अद्वैतवाद के अनुसार ब्रह्मज्ञानी स्वयं ब्रह्म बन जाता है। अतः, दृष्टि वह गहन और स्थायी अभिवृत्ति है, जिससे छनकर

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

अथवा अभिरंजित होकर ही सभी वस्तुयें अपने असली रूप में दिखती हैं। इसलिये 'दर्शन' से आत्मज्ञान, आत्मसंवर्धन, आत्मप्राप्ति आदि का तात्पर्य माना जाता है। यह ठीक है कि यूनान में भी सुकरात को यही आदेश मिला था कि 'मानव ! तू अपने को जान।' यही बात उपनिषदों में भी है 'आत्मानं विद्धि।' परन्तु, पाश्चात्य दर्शन में आत्मपरिवर्त्तन, आत्मसंवर्धन पर उतना अधिक बल नहीं दिया जाता है, जितना भारतीय दर्शन में। दूसरे शब्दों में पाश्चात्य दार्शनिक प्रकृति पर तथा समाज पर आधिपत्य जमाकर मानव का निःश्रेयस् प्राप्त करना चाहता है। परन्तु, भारतीय दर्शन के अनुसार प्रकृति और समाज से पराङ्मुख होकर ही व्यक्ति अपना विकास कर सकता है। ऐसा क्यों ? क्यों भारतीय दर्शन में आत्मज्ञान पर और पाश्चात्य दर्शन में बाह्य ज्ञान पर बल दिया गया है ? मेरी समझ में इस भेद को इस प्रकार स्पष्ट किया जा सकता है।

भारतीय दर्शन की कुछ अपनी मान्यतायें हैं, जिन्हें बौद्ध दर्शन में स्पष्ट रीति से व्यक्त किया गया है, अर्थात्,

१. जीवन दु:खमय है।

२. इस दुःख का कारण है।

३. इस दुःख की निवृत्ति का मार्ग है।

४. दुःख-निवृत्ति की स्थिति भी है, जिसे भारतीय धर्मदर्शन में मोक्ष, निर्वाण, अपवर्ग, मुक्ति आदि संज्ञाओं से विभूषित किया गया है।

सांख्य-दर्शन में बताया गया है कि दुःख तीन प्रकार का है—आध्यात्मिक (राग-द्वेषादि से उत्पन्न), आधिभौतिक (प्रकृति, समाज से उत्पन्न) तथा आधिदैविक (अलौकिक सत्ताओं से उत्पन्न)। सामान्य रूप से 'दुःख' का अर्थ होता है बेचैनी, अशान्ति, दुश्चिन्ता, निरुद्देश्यता, जीवन की निरर्थकता आदि। यह क्यों ? क्योंकि, सभी वस्तुयें क्षणभंगुर हैं। कोई भी वस्तु स्थायी नहीं है। मानसिक अनुभवन चंचल और अस्थिर रहता है। यही बात बाह्य घटनाओं से उत्पन्न अनुभवन के सम्बन्ध में कही जा सकती है। ईश्वर और देवता भी प्रायः रूठ जाते और कहा नहीं जा सकता है कि उन्हें किस प्रकार से नित्य-रीति से प्रसन्न किया जा सकता है। भारतीय दर्शन के अनुसार सुख

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

क्षणिक तथा बाह्य निर्धारकों से नियन्त्रित रहने पर उनसे चिरशान्ति नहीं प्राप्त की जा सकती है। स्वर्गसुख को भी बनावटी, कृत्रिम तथा निकृष्ट कहा गया है (बृहदारण्यक ४ : ३ : ३२)। फिर, बताया गया है कि यज्ञादि कर्मों से स्वर्गप्राप्ति की कामना मूर्ख करते हैं; क्योंकि याज्ञिक नौका एक तो दृढ नहीं है। फिर, पुण्य के क्षय हो जाने पर इस मृत्युलोक में जन्म लेना पड़ता है (मुण्डक १ : २ : ७, ६)। इसलिये, भारतीय दार्शनिक ऐसी स्थिरता की खोज में थे, जो नित्य और शाश्वत हो। शायद यह खोज समसामयिक विचारधारा के अनुसार वृथा कही जायगी, परन्तु भारतीय विचारकों के लिये यह खोज सच्ची और पक्की सिद्ध हुई। इसकी भी व्याख्या की आवश्यकता है।

निस्सन्देह, धार्मिक तत्त्वचिन्तन भारत में प्राग्वैज्ञानिक है और बिना विज्ञान के उदय हुए, तकनीकी का प्रादुर्भाव नहीं हो सकता है। बिना तकनीकी के प्रकृति पर अधिकार नहीं हो सकता है और ऐसी अवस्था में बाढ़-सूखा, संक्रामक रोगादि से मानव का त्रस्त होना स्वाभाविक है। फिर, साम्राज्यवाद में राजाओं का आतंक भी ऐसा था, जिसका सामना आदिकालीन भारतीय नहीं कर सकते थे। सामूहिक क्रान्ति का विकास इसी बीसवीं शताब्दी में हुआ है और बिना सामूहिक क्रान्ति के सामन्तवाद तथा सर्वसत्तावादियों का सामना नहीं किया जा सकता है। इसलिए, भारतीय चिन्तक बाह्य जगत् को विजय करने की अभिलाषा छोड़कर आत्मविजय की ओर अग्रसर हुए। कम-से-कम व्यक्ति वीतराग होकर उपेक्षा-भाव को अपनाकर दुःखद परिस्थितियों से अविचलित होकर स्थिरता प्राप्त कर सकता है। इसी बात को रोमन विचारकों में स्टोइक्स और एपिक्यूरस ने भी सोचा था। परन्तु, इन रोमन विचारकों को योगादि की साधना नहीं प्राप्त हो सकी। परन्तु, भारतीय चिन्तकों को स्थिरता-प्राप्ति का समाधि, शील और प्रज्ञा का ज्ञान था, जिसके आधार पर वे स्थितप्रज्ञ बन सके। इस साधना की बात जैन, बौद्ध तथा शांकर अद्वैतवाद में बतायी जायगी। यहाँ इतना ही भर कहना पर्याप्त होगा कि भारतीय चिन्तकों का निवृत्ति-मार्ग अथवा मनोवैज्ञानिक स्थिरता-प्राप्ति का मार्ग सर्वथा सत्यापनीय तथा परीक्षायोग्य है। आज भी इस मार्ग का अनुसरण कर कोई भी शान्ति प्राप्त कर सकता है। चूँकि, स्थिरता-प्राप्ति का मार्ग सिद्ध और प्रमाणित है, इसलिए वे मान्यतायें,

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

जिनके आधार पर ये मार्ग निश्चित किए गये हैं, उन्हें भारतीय सिद्ध पुरुष प्रमाणित मानते हैं। ये निम्नलिखित मान्यतायें हैं :

१. अन्तिम सत्ता शुद्ध है (यहाँ बौद्धों को छोड़कर अन्य सभी दर्शनों में अन्तिम सत्ता को चाहे एक परमात्मा या अनेक आत्मा के रूप में माना गया है। चार्वाक किसी भी आत्मा को नहीं स्वीकारता है।)

२. यह शुद्ध सत्ता अज्ञान के कारण आत्मेतर पदार्थों से तादात्म्य कर दुःख-सुख का भोगी हो जाती है। जीवों को इस अज्ञान की अवस्था को अनादि, परन्तु सान्त माना जाता है।

३. दुःख-निरोध-मार्ग के अनुसरण से परम सत्ता की आदिम स्थिति प्राप्त हो जाती है। परन्तु, बौद्धों ने निर्वाण को और शांकर मत में निर्गुण ब्रह्म को अनिर्वचनीय कहा है। इसी प्रकार, जैन, सांख्य-योग तथा न्याय-वैशेषिक-दर्शन में मुक्ति-स्थिति का स्पष्ट वर्णन नहीं पाया जाता है। न्याय-वैशेषिक-दर्शन में शुद्ध रूप में आत्मा चैतन्यपूर्ण है, परन्तु, ज्ञाता नहीं; क्योंकि विना मन, इन्द्रिय के ज्ञान सम्भव नहीं होता और मुक्तावस्था में मन, इन्द्रियादि से आत्मा का विलगाव हो जाता है। अतः, भारतीय दर्शनों का मुख्य उद्देश्य रहा है कि वे मुक्ति-मार्ग का बोध करा दें, न कि मुक्तावस्था की पूर्ण व्याख्या करें।

जव मुक्ति की स्थिति का ही स्पष्ट वर्णन नहीं मिलता है, तव इन प्रश्नों को उठाना कि शुद्ध ब्रह्म से अज्ञानी जीव कैसे उत्पन्न हुए या शुद्ध चैतन्यपूर्ण सर्वज्ञ आत्मा कैसे अज्ञान में फँस गयी, वृथा है। बुद्ध भगवान् इस प्रकार के प्रश्नों को अव्याकृत कहेंगे। परन्तु, इस प्रकार की स्थिति लगभग सभी दर्शनों में पायी जाती है। सभी भारतीय दर्शनों में वताया जाता है कि किस प्रकार, दुःख का अन्त हो सकता है, परन्तु, किसी भी दर्शन में इसकी व्याख्या नहीं हुई है कि अज्ञान का प्रारम्भ कैसे हुआ। अतः, दुःख और दुःखनिवृत्ति-मार्ग के सम्वन्ध को असममित कहा जा सकता है, अर्थात् दुःख से दुःख-निवृत्ति-मार्ग का सम्वन्ध उसी प्रकार का नहीं है, जिसे परमसत् से अज्ञान की ओर वताया

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

जा सकता है। रामानुज ने शांकर अद्वैतवाद के माया-सिद्धान्त की आलोचना करते हुए बताया है कि माया न जीव में और न ब्रह्म में हो सकती है। परन्तु, क्या रामानुज या कोई भी विचारक बता सकता है कि शुद्ध सत् से अज्ञानी जीव कैसे उत्पन्न हुए? शुभ और शुद्ध ईश्वर से पापी मानव कैसे और क्यों सृष्ट हुए? यह प्रश्न केवल बुद्ध भगवान् के ही लिये नहीं, सभी दार्शनिकों के लिये अव्याकृत है। बुद्ध भगवान् की दार्शनिक पैठ इसी में थी कि उन्होंने इस समस्या को इस रूप में देखा। नासदीयसूक्त से पाठ सीखकर इन आदि घटनाओं को व्याख्येय नहीं स्वीकारना चाहिए। रसेल, एयर, राईखेनबाख् आदि विचारक इन समस्याओं को समस्या नहीं, वरन् समस्याभास समझते हैं। सम्पूर्ण विश्व कोई घटना नहीं है. जिसकी व्याख्या हो सकती है।[१] परन्तु, परिस्थिति की व्याख्या हो सकती है, उससे उत्पन्न समस्याओं का समाधान किया जा सकता है। प्राचीन विचारकों ने प्रकृति और समाज पर आधिपत्य न जमाकर, अपने पर ही विचार प्राप्त करने का मार्ग खोज निकाला। पर, क्या आज भी हमारी समस्या उसी रूप में है? क्या आज की समस्या का भी समाधान आत्मविजय के द्वारा प्राप्त किया जा सकता है?

मेरी समझ में आज की समस्या किसी अन्य रूप में है। विज्ञान और तकनीकी का यह युग है, जिसके आधार पर प्रकृति पर आधिपत्य जमाया जा सकता है। इसी प्रकार, आन्दोलन तथा सामूहिक क्रान्ति के आधार पर सामन्तवादियों की शक्ति का दमन किया जा सकता है। इसलिए, आधिभौतिक ताप का सामना किया जा सकता है। इसी प्रकार यदि आधिदैविक शक्तियों से विमुख होकर बहुजनसुखाय एवं बहुजनहिताय अपनी खुदी अथवा, स्वार्थपन एवं अहंभाव का विलयन किया जा सकता है। आध्यात्मिक ताप से बचने के लिये ध्यान, समाधि की सहायता ली जा सकती है। अतः, समाज-सेवा के द्वारा अहंभाव का विलयन करके आत्मसंवर्धन के आदर्श की प्राप्ति की जा सकती है। भारतीय विचारकों का उद्देश्य उन्हें, स्पष्ट होना चाहिए। परन्तु, क्या उनके अन्दर वही निर्भीकता और वही विचार-स्वतन्त्रता पायी जाती है, जो जैन-बौद्ध तथा सांख्य-योग के युग में प्राप्त थी?

१. या० मसीह, समकालीन धर्मदर्शन, पृ० ७९-८०, ८४-८५।

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

आश्चर्य होता है कि लगभग ६०० ई० पू० विहार के अनार्य प्रदेश में ऐसे विचारक थे, जो किसी पारलौकिक सत्ता से दया की भीख नहीं माँगते थे। देवी-देवताओं की ओर से पूर्ण उदासीनता रखते थे। कालवादियों के लिये काल ही सब कुछ का कर्त्ता है। काल ही में सभी घटनायें बनती-विगड़ती हैं। इसी प्रकार, स्वभाववादी थे, जिनके अनुसार, प्रत्येक वस्तु का अपना स्वभाव है और उसी स्वभाव से उनकी सभी घटनाओं की व्याख्या की जा सकती है। कांटों के नुकीलेपन को और मृग तथा पक्षियों के विविध वर्ण को इन वस्तुओं के अपने स्वरूप से ही स्पष्ट किया जा सकता है। इन वस्तुओं के विविध गुणों को, इन वस्तुओं के स्वरूप को छोड़ किसी भी अन्य सत्ताओं को इनका उत्पादक नहीं स्वीकार किया जा सकता है। **मक्खलि गोसाल** नियतिवादी हैं और इनके अनुसार, किसी भी घटना को रोकने अथवा, होने में मानव अवश पाया जाता है। इनके अनुसार, प्राणियों के क्लेश का कोई हेतु नहीं है। जीवों की शुद्धि का भी कोई हेतु नहीं है। न आत्मकार है, न परकार है, न पुरुषकार है, न बल है, न वीर्य है, न पुरुष का पराक्रम है। सभी सत्त्व, सभी प्राणी, सभी भूत सभी जीव अवश हैं। इसका कारण है कि मक्खलि के अनुसार, सभी जीवों का असंख्य योनियों का क्रम प्रारम्भ से ही निर्धारित रहता है और इस क्रम के अन्त में अपने-आप शुभ कर्म सम्पादित होने लगते हैं। शुभ कार्य मानव के शुभ संकल्प से उत्पन्न नहीं होते हैं। परन्तु, वे इस बात के द्योतक हैं कि शुभ कार्यवाले व्यक्ति की मुक्ति का समय समीप आ रहा है। अतः, नियतिवादी रहने पर भी मक्खलि गोसाल अशुभ-शुभ, बद्धता-मुक्ति के भेद को स्वीकार करते थे। इसके विपरीत, **पूरण-काश्यप** नीति-अनीति के भेद को नहीं स्वीकार करते थे। वे जीव-हत्या, डकैती तथा व्यभिचारी तक को भी बुरा नहीं कहते थे और तपस् को भी अच्छा नहीं कहते थे। परन्तु, ये भी समझते थे कि समय के परिपक्व होने पर मानव में एक प्रकार का कार्य होता है तथा अन्य स्थितियों में दूसरे प्रकार का कार्य होने लगता है। फिर, यदृच्छावादी थे, जो कारण-कार्य के प्रनियम को नहीं स्वीकार करते थे। इसलिए, सभी घटनायें, यदृच्छावादी के लिये आपातिक एवं संयोगात्मक हुआ करती हैं। बौद्ध-दर्शन में इन्हें अक्रियावादी कहा गया है; क्योंकि वौद्ध कर्म-सिद्धान्त को नहीं स्वीकार करते हैं।

यह ठीक है कि कालवाद, यदृच्छावाद तथा नियतिवाद न तो वैज्ञानिक ही माना जायगा और न मानव-सुधारवाद के लिये हितकर समझा जायगा।

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

परन्तु, इन वादों के रहने से यह स्पष्ट हो जाता है कि ये विचारक निर्भीक और स्वतन्त्र थे और इससे यह भी आभासित होता है कि ये विचार शताब्दियों के चिन्तन के फलस्वरूप ही सम्भव हो सकते हैं। इन विचारकों ने आधिदैविक सत्ताओं के प्रति पराङ्मुख होकर, हर्ष-विषाद से अलग होकर अपने को प्राकृतिक घटनाओं के प्रति आत्मसमर्पित कर दिया था। ये शुद्ध रूप में आत्मनिर्भर जीव थे। इन्हीं स्वतन्त्र विचारों के सन्दर्भ में ही जैन-बौद्ध मतों का विकास हुआ। सभी प्रकार के वादों के रहते हुए भी, अजितकेशकम्बल, पूरण काश्यप, मक्खलि गोसाल आदि बड़े तपस्वी थे और इन्हें ऋद्धियाँ भी सिद्ध थीं। अतः, ये ध्यानी और तपस्वी थे और यही कारण है कि इन विचारकों को समाज में सम्मान दिया जाता था। जैन-बौद्ध दर्शनों में तप, ध्यान, समाधि को अपनाया गया। कर्म और नियतिवाद के साथ पुरुषकार को भी स्थान दिया गया। साथ-ही-साथ आधिदैविक सत्ताओं को भी अस्वीकार किया गया। अतः, स्वतन्त्र तथा निर्भीक विचारों के सर्जनात्मक गर्त्त से जैन-बौद्ध दर्शन का विकास हुआ है और इनका प्रभाव हिन्दुत्व पर अमिट रूप से पाया जाता है। अतः, हिन्दुत्व को अन्धविश्वास तथा हठवाद का अखाड़ा नहीं समझना चाहिए। यह शताब्दियों के स्वतन्त्र विचार तथा गहन तपस्या का अन्तिम परिणाम है। परन्तु, किसी भी विचार का समादर तभी होता है, जब इसे पूर्ण विचार-विमर्श के साथ अपनाया जाता है।

जैनधर्म का सार तत्त्व :

अनार्य विचार के अनुरूप इसमें भी अज्ञान, आवागमन, निवृत्ति-मार्ग तथा मोक्ष-सिद्धान्त पाया जाता है। जैनधर्म में जातिभेद नहीं पाया जाता है। परन्तु, भिक्षु और गृहस्थ का भेद पाया जाता है जो कि जन्मना भेद नहीं है। यह धर्मदर्शन तपस्, ब्रह्मचर्य और कठिन साधना का दर्शन है। अन्य सभी धर्मविचारों के समान जैन मत भी सर्वग्राही दर्शन है; क्योंकि मानव के सम्पूर्ण व्यक्तित्व, अर्थात् ज्ञान, कृति एवं भाव का इसमें समाकलित (एक साथ) आवश्यकता पायी जाती है। इसे रत्नत्रय से अभिव्यक्त किया जाता है, अर्थात् सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र। इस त्रिरत्न की व्याख्या बाद में की जायगी। यहाँ अतिसंक्षेप में जैनदर्शन की रूपरेखा दी जा सकती है।

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

तत्त्वविचार : जैन धर्मदर्शन में ७ तत्त्वों को स्वीकार किया जाता है, जिन्हें निम्नलिखित रीति से व्यक्त किया जा सकता है :

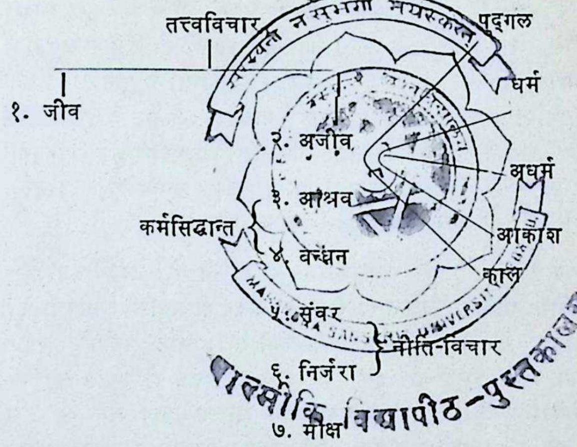

इस तत्त्वविचार में सांख्य-दर्शन की छाया है। यहाँ जीव और अजीव के ही दो मुख्य भेद हैं और मुक्ति-ज्ञान तभी सम्भव होता है, जव आत्मा अजीव से अपने को हीनकर निर्ग्रन्थ हो जाय। जीव अनेक माने जाते हैं और जीवात्मा का अपना सारगुण है—अनन्त वीर्य, ज्ञान और चैतन्य। वास्तव में, आत्मा का विस्तार नहीं होना चाहिये, परन्तु जैनमत के अनुसार आत्मा शरीर को व्याप्त करता है और इसी प्रकार विस्तृत एवं संकुचित होता है, जिस प्रकार प्रकाश कमरे के क्षेत्र के साथ कम या अधिक क्षेत्र को घेरता है।

अजीव के अन्तर्गत पुद्गल जड पदार्थ है, जो परमाणुओं के संयोग-वियोग से वनता है। धर्म का अर्थ यहाँ गुण अथवा नैतिक कर्म नहीं है। यह अर्धजड पदार्थ है, जो सम्पूर्ण विश्व में व्याप्त है और सभी गतियों का आधार माना जाता है। उसी प्रकार अधर्म वह है, जो गति को रोकता है। आकाश को अनन्त माना गया है, परन्तु द्रव्यों के क्षेत्रों के साथ इसे सीमित होना माना गया है। काल के ही कारण वर्त्तना, परिणाम, क्रिया, नवीनता, प्राचीनता आदि घटनाओं के लक्षण सम्भव होते हैं।

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

आस्रव और बन्धन : अन्य भारतीय दर्शनों के समान जैनमत में भी स्वीकार किया जाता है कि मानव बन्धन में अनादिकाल से है। यह बन्धन अज्ञान के कारण है। यद्यपि अज्ञान अनादि है, तो भी इसका अन्त सम्भव है। अज्ञान के कारण जीव अपने अनन्त चैतन्यपूर्ण स्वरूप को नहीं समझ पाता है। वह शरीर से आत्मसात् कर शारीरिक वासनाओं से युक्त होकर अपने को सुख-दुःखभोगी समझता है। जिस प्रकार मेघाच्छन्न आकाश के कारण सूर्यप्रकाश मन्द पड़ जाता है, उसी प्रकार अज्ञान के कारण आत्मा की शुद्धचैतन्यपूर्णता भी ओझल हो जाती है। अतः, ज्ञातव्य यह है कि यह बन्धन किस प्रकार जारी रहता है और इसे किस प्रकार दूर किया जा सकता है।

कर्म के करने से ही परमाणुओं का आत्मा की ओर आकर्षण होता है और इन परमाणुओं से निर्मित शरीर के अन्दर ही प्रवृत्तियाँ उत्पन्न होती हैं। मान, मोह, क्रोध और लोभ से उत्पन्न कर्मों से आकृष्ट परमाणु आत्मा को चपककर पकड़े रहते हैं और इस चपकाव के साथ कर्म को कषाय कहा गया है। पुद्गल-परमाणुओं के इस आकर्षण को आस्रव कहा गया है। जबतक वासनाओं से उत्पन्न कर्म होते रहेंगे, तबतक पुद्गल-परमाणुओं का अन्तर्वाह आत्मा की ओर बना रहेगा और जीव पुद्गल से लिपटकर संसार के आवागमन के चक्र में फँसा रहेगा। यही है बन्धन।

कर्म की अनेक प्रकार की प्रकृतियाँ हैं, जिनमें ये आठ मूल हैं :

१. **ज्ञानावरणीय :** जो पाँच प्रकार के सोपानक्रमिक ज्ञान को आच्छादित करते हैं। जैसे : (क) मति, (ख) श्रुति, (ग) अवधि, (घ) मनःपर्याय और (ङ) केवली।
२. **दर्शनावरणीय :** जो आत्मा के चैतन्यगुण को आवृत करता है। इसमें निद्रा-तन्द्रा आदि कर्मगुण देखे जाते हैं।
३. **मोहनीय कर्म :** जो क्रोध, मोह, मान और लोभ से उत्पन्न होते हैं।
४. अन्तराय।
५. वेदनीय।
६. आयु।
७. नाम।
८. गोत्र।

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

अतः, कर्मों के आस्रव को रोकना चाहिये और पूर्वसंचित कर्मों का नाश करना चाहिये। इन दो क्रियाओं को 'संवर' और 'निर्जरा' कहते हैं।

संवर-निर्जरा :

नये कर्म को रोकने का नाम संवर है। इनके अन्तर्गत निम्नलिखित कठिन तप की बात कही गयी है—

१. त्रिगुप्ति—जिसमें मन, वचन और काय की प्रवृत्ति को रोका जाता है।

२. पंचसमिति।

३. दशलक्षणधर्म।

४. द्वादशानुप्रेक्षा।

५. द्वाविंशति—परीषहजय, अर्थात् इसके अन्तर्गत २२ पीड़ाओं को सहन करना, उदाहरणार्थ, भूख-प्यास, सर्दी-गर्मी, मच्छर-खटमल का दंश आदि।

६. पंचचारित्र—अर्थात्, पापक्रियाओं का त्याग, समताभाव, शान्तचित्त आदि को अपनाना।

निर्जरा से अर्थ है झड़ना। तप के द्वारा पूर्वसंचित कर्म भी विनष्ट हो जाते हैं। इसमें कठिन तप की आवश्यकता होती है, जैसे, उपवास, अल्प-भोजन आदि। इसके साथ पश्चात्ताप, श्रद्धा, सेवा, अपरिग्रह आदि भी आवश्यक माने गये हैं। आस्रव से बन्धन और दुःख। दुःख को शान्त करने के लिये संवर-निर्जरा। परन्तु, दुःख-निवृत्ति-मार्ग को ही मोक्ष-मार्ग समझना चाहिये और इसके अनुसरण के लिये रत्नत्रय का उल्लेख किया गया है, अर्थात् 'सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः।' इसलिये इन सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र का उल्लेख किया जायगा।

मोक्षप्राप्ति-मार्ग :

पहले ही कहा जा चुका है कि सामान्यतः भारतीय धर्मदर्शन का उद्देश्य है कि व्यक्ति ही को परिवर्तित किया जाय— उसमें ही उदात्त गुणों का उद्‌बोध किया जाय और इस लक्ष्य को आत्मसंवर्धन का सिद्धान्त कहा जा सकता है। इस आत्मपरिपूर्णता में मानव की सभी प्रक्रियाओं का सम्बोधन परिमार्जन और संकलन आवश्यक होता है। यही कारण है कि व्यक्ति के

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

सम्पूर्ण व्यक्तित्व के विकास के लिए जैनमत में रत्नत्रय का उल्लेख किया गया है, अर्थात् सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र। 'दर्शन' से यहाँ तात्पर्य दृढ़ विश्वास अथवा अडिग प्रतीति है। इसलिये, 'दर्शन' अटूट श्रद्धा एवं कूटस्थ आस्था का परिचायक माना जाता है। अतः, मोक्षप्राप्ति के लिए व्यक्ति को जनशास्त्र, जैन धर्मज्ञान आदि में अटूट श्रद्धा होनी चाहिए। परन्तु कोई भी श्रद्धा बिना ज्ञान के स्थायी और असन्दिग्ध नहीं हो सकती है। इसलिये, सम्यग्दर्शन के साथ सम्यग्ज्ञान की बात भी बतायी जाती है।

जैनमत में 'ज्ञान' से वैज्ञानिक ज्ञान का विशेष अभिप्राय नहीं लिया जाता है। सम्यग्ज्ञान वह है, जिससे मोक्षप्राप्ति में सहायता प्राप्त हो। इस मोक्षज्ञान को धर्मज्ञान से भिन्न समझना चाहिये। शास्त्रविहित ज्ञान को धर्मज्ञान कहा जाता है। परन्तु, शास्त्रों का ज्ञान हो जाने पर भी सम्भवतः मुक्ति नही प्राप्त हो सकती है, यदि इस ज्ञान से आत्मज्ञान नहीं उत्पन्न हो। अन्त में साधक को इसका पूर्ण भान हो जाना चाहिये कि वह अजीव नहीं है और उसे अपने अकेलेपन का अनन्य बोध हो जाना चाहिये। भारतीय धर्मदर्शन में ज्ञान साधना का विषय है और साधना में एक क्रमिक विकास होता है। अतः, सम्यग्ज्ञान की प्राप्ति भी एक क्रमिक विकास के फलस्वरूप ही उत्पन्न होती है। ज्ञान पाँच प्रकार के बताये गये हैं :

१. **मतिज्ञान** वह है, जिसमें ज्ञानेन्द्रिय तथा मन के माध्यम से व्यावहारिक जीवन की वस्तुओं का ज्ञान सम्मिलित किया जा सकता है। इसके अन्तर्गत, स्मृति, प्रत्यभिज्ञा, अनुमान आदि सभी चले आते हैं।

२. **श्रुतज्ञान** विशेषतया आप्तवचन तथा शास्त्रों में विहित धर्मोपदेशों से सम्बन्ध रखता है। इसलिये, इसे शब्द-ज्ञान भी कहा जा सकता है।

३. **अवधिज्ञान** वह है, जो साधना की थोड़ी उपलब्धि के बाद ही सम्भव होता है। आगे चलकर हम देखेंगे कि ध्यान और गुणस्थान दो प्रकार की साधनायें हैं, जिनके फलस्वरूप भिक्षु अपनी मोक्ष-यात्रा में अग्रसर होता है। जब कर्म अंशतः विनष्ट हो जाता है, तभी अवधिज्ञान प्राप्त हो जाता है। अवधि में दूर, सूक्ष्म वस्तु तथा परमाणु तक का ज्ञान हो जाता है।

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

४. **मनःपर्याय** ज्ञान तभी होता है, जब बाधायें पहुँचानेवाली कर्म-शक्तियों पर विजय प्राप्त कर लिया जाता है। मनःपर्याय में साधक अन्य व्यक्तियों के मन की बात जान लेता है और उनके भूत और भविष्य का भी साधक को ज्ञान हो जाता है। परन्तु, यह ज्ञान सीमित वस्तुओं का तथा कालगत घटनाओं का ही ज्ञान होता है।

५. **केवलज्ञान** सिद्ध योगी को ही सम्भव होता है। वह अपने चैतन्य-स्वरूप अनन्त आत्मा को जानने लगता है, जिससे आत्मा को वह अकेला अथवा अन्य सभी ग्रन्थियों और कर्मों से मुक्त देखता है।

जैनदर्शन में प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और शब्द को प्रमाण माना जाता है। इस प्रमाण-रूप में मति का सम्बन्ध विशेष-रूप से प्रत्यक्ष से रहता है और श्रुत का सम्बन्ध अनुमान, उपमान और शब्द से रहता है। जैन दर्शन में प्रत्येक द्रव्य को अनन्त गुण और पर्यायों (अर्थात् नित्य नूतन परिवर्त्तन) युक्त समझा जाता है। अतः, किसी एक दृष्टिकोण (नय) से केवल एक ही अन्त (पक्ष) का ज्ञान सम्भव हो सकता है। इसलिये वस्तुओं में अनेकान्तवाद को तथा इनके सम्बन्ध में दृष्टि-विचार को सप्तभंगी नय कहा जाता है। चूँकि एक समय में एक ही अन्त को जाना जा सकता है, इसलिये इस बात का बोध कराने के लिये 'स्यात्' शब्द को काम में लाया जाता है। 'स्यात्' का अर्थ 'शायद' नहीं है। परन्तु, इससे ध्वनित होता है कि अमुक वस्तु अथवा घटना का अन्य पक्ष भी सम्भव है। सप्तभंगी नय को स्याद्वाद भी कहा जाता है।

१. स्यात् अस्ति—यह कलम है, परन्तु इसके अन्य गुण और पर्याय का उल्लेख नहीं है। अतः, इसके वर्ण, स्थान, देश आदि पक्ष भी सम्भव हैं, जिनका उल्लेख यहाँ नहीं किया गया है।

२. स्यात् नास्ति—यह कलम लाल नहीं है, मेज पर नहीं है आदि।

३. स्यात् अस्ति च नास्ति च—यह कलम अभी मेज पर नहीं हैं, परन्तु कुछ ही क्षण पूर्व यह कलम मेज पर थी। अतः, एक घण्टे को ध्यान में रखकर कहा जा सकता है कि यह कलम मेज पर थी और नहीं भी थी।

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

४. इसी बात को पूछा जाय, क्या यह कलम मेज पर ८ से ६ बजे प्रातःकाल में थी ? यहाँ उत्तर होगा 'अवक्तव्यम्'; क्योंकि दोनों बातें एक साथ सही हैं और इसलिये शब्दों के द्वारा हाँ-न तथा हाँ-न से नहीं व्यक्त किया जा सकता है।

इसी प्रकार अन्य तीन नय भी हैं, अर्थात्,

५. अवक्तव्यम् अस्ति ।
६. अवक्तव्यम् नास्ति ।
७. अवक्तव्यम् अस्ति च नास्ति च ।

पाश्चात्य विचारकों में ब्रैडले का कहना है कि चूंकि किसी भी वस्तु को हम चयनात्मक रीति से ही अनुभूत कर सकते हैं और चूंकि उसे उसके असंख्य गुण और पर्याय को नहीं जान सकते हैं, इसलिये मानव-ज्ञान केवल आभास को ही जान सकता है, न कि सत् को। जैनों के अनुसार किसी भी प्रत्यक्ष में किसी भी वस्तु के एक ही अन्त का ज्ञान सम्भव होता है, परन्तु यह एकान्तिक ज्ञान अपूर्ण है, न कि असत्य। इसलिये जैनज्ञानमीमांसा को वास्तववादी कहा जाता है और इस मत की तुलना जेम्स तथा रसेल के वास्तववादी मत से की जा सकती है।

जैनदर्शन का लक्ष्य आत्मदर्शन तथा केवलज्ञान से है और आत्मदर्शन व्यक्ति के चारित्र से सम्बन्ध रखता है। इसलिये रत्नत्रय अवियोज्य हैं। मुक्तिज्ञान वह है, जो अज्ञान से उत्पन्न सभी कर्मों और आवरणों को दूर कर दे और कर्मावरण प्रवृत्तियों से उत्पन्न होते हैं। अतः, प्रवृत्ति-विनाश से ही कषाय और आवरण दूर किये जा सकते हैं। यह घोर तप के फलस्वरूप ही सम्भव हो सकता है, जिसका थोड़ा-सा उल्लेख संवर-निर्जरा के प्रसंग में कर दिया गया है। परन्तु, सम्यक्चारित्र में पंचमहाव्रत का उल्लेख किया जाता है और ये हैं :

१. अहिंसा;
२. सत्य;
३. अस्तेय;
४. अपरिग्रह और
५. ब्रह्मचर्य ।

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

मित्रों को नमस्कार, अपने पापों को अंगीकार करता और अर्हतों की याद करके योगमुद्रा को ग्रहण करता है। उसे अपने ध्यान के लिये किसी आलम्बन को स्वीकारना पड़ता है, जिसे परिकर्मनिमित्त कहते हैं और बौद्ध दर्शन में परिकर्म-निमित्त को कर्मस्थान भी कहते हैं, जिनकी संख्या ४० बतायी जाती है। अपने संस्कार के अनुसार भिक्षु को एक परिकर्मनिमित्त अपनाना होता है। कोई बुद्ध भगवान् की प्रतिमा, कोई नीले अथवा लाल कमल को या अन्य इस प्रकार की शुभ वस्तु को अपना कर्मस्थान बनाता है। कुछ ही दिनों के अभ्यास के फलस्वरूप चुनी गयी कर्मस्थान-वस्तु को अपने शुद्ध रूप में बिना वर्ण, आकार, क्षेत्र तथा अन्य गुणों के चित्त में रहना चाहिये। इस शुद्ध रूप में इसे प्रतिभाग-निमित्त कहते हैं। यदि कर्मस्थान-वस्तु को संवेदित प्रदत्त माना जाय, तो प्रतिभाग-निमित्त को बिम्ब अथवा प्रतिमा (Image) कहा जा सकता है।

प्रारम्भ में भिक्षु का प्रतिभागनिमित्त-विषयक ध्यान बार-बार भंग होता रहता है। परन्तु, प्रयास और अभ्यास के परिणामस्वरूप अन्त में ध्यान प्रतिभागनिमित्त पर घण्टों तक स्थिर हो जाता है। ध्यान की पहली क्षीण अवस्था को, जिसमें ध्यान भंग होता रहता है, उपचार, और स्थिर ध्यान की अवस्था को **अर्पणा** कहा जाता है। अर्पणा की प्राप्ति के बाद ही ध्यान-क्रम प्रारम्भ होने लगता है, पहले रूपलोक-समाधि और तब अरूपलोक-ध्यान अथवा समापत्ति।

रूपलोक-ध्यान

प्रथम ध्यानावस्था :

१. इस अवस्था में मन को सभी वासनाओं और रागात्मक वृत्तियों से मुक्त करना चाहिए, अर्थात् मन को कुत्सित भावनाओं से मोड़ लेना चाहिये।

२. प्रतिभाग-निमित्त पर चित्त को अभिरोपित करना चाहिये।

३. जिस प्रकार से भौंरा किसी एक फूल पर घण्टों भ्रमण करता है, ठीक उसी प्रकार चित्त को अपने प्रतिभाग-निमित्त पर स्थिर करना चाहिये।

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

४. नीवरणों के हट जाने पर ध्यानी को शारीरिक और मानसिक सुख का अनुभव होने लगता है।

५. प्रतिभाग-निमित्त के प्रति एकाग्रता प्राप्त होती है।

प्रथम ध्यान में वितर्क, विचार, पीति, सुख और चित्त की एकाग्रता पायी जाती है। इसमें वासनाओं तथा कामवृत्ति के प्रक्षालन से चैतसिक विशुद्धि प्राप्त होती है। फिर, शान्ति का अनुभव होता है। मानसिक सुख अथवा सम्प्रसाद (सुप्रसन्नता) का अनुभव होता है। परन्तु, विचार और वितर्क के कारण ध्यान पूर्णतया स्थिर नहीं हो पाता है। फिर, ये वितर्क-विचार स्थूल रूप लिये होते हैं। सुख तथा पीति भी स्थूल रहता है। अतः, ध्यानी को प्रतिभाग-निमित्त को विस्तारित करना पड़ता है, ताकि चित्त-विशुद्धि भी व्यापक रूप धारण करती जाय।

रूपलोक-ध्यान की दूसरी अवस्था अथवा चरण :

१. यहाँ आर्यसत्यों के सम्बन्ध में मनन करना बन्द हो जाता है और उन-पर विचार करना भी अनावश्यक हो जाता है। यहाँ शारीरिक सुख भी स्थूल के स्थान पर सूक्ष्म होने लगते हैं।

२. यहाँ सम्प्रसादन तथा श्रद्धा का भाव उत्पन्न होने लगता है, जिससे ध्यान स्थिर होने लगता है।

३. ध्यान की अटूट स्थिरता के हेतु पीति और सुख का भी संचार होने लगता है।

४. एकाग्रता में भी गम्भीरता बढ़ जाती है।

परन्तु, ध्यानी शारीरिक सुख तथा पीति को इस अवस्था में रुकावट समझने लगता है।

तीसरा ध्यान : इस चरण में उपेक्षा, सतिमा और सुखविहार का अनुभव होने लगता है। उपेक्षा सुख और दुःख दोनों से परे एक तीसरे प्रकार का भाव है, जिसमें सुख-दुःख से विरक्त होकर ध्यानी सूक्ष्म आनन्द का लाभ उठाता है, पर इस आनन्द को 'सुख' नहीं कहा जा सकता है। यह सुख से परे उच्चतर कोटि का भाव है, जिसे योगी ही अनुभूत कर सकता है। इस अवस्था में अनात्मभाव, अनित्यता तथा क्षणिकत्व-भावना से ध्यानी क्षुब्ध नहीं होता है। यह स्थिति बड़ी

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

मार्मिक है; क्योंकि साधारणतया शायद ही कोई व्यक्ति अपने अभाव या विलोपन पर शान्तचित्त से कुछ क्षणों तक भी ध्यान कर सकता है। सतिमा में ध्यानी को वाह्य और आन्तरिक वस्तुओं का सही ज्ञान होने लगता है और इस ज्ञान के कारण पीति और सुख का प्रादुर्भाव नहीं होने पाता है। सुख-विहार का अर्थ है कि ध्यानी अब सुखभाव से अप्रभावित रहता है।

चौथा ध्यान : रूपलोक-ध्यान के चतुर्थ चरण में कोई नयी वात नहीं होती, परन्तु पूर्व के तीनों चरणों की इसमें पूर्णता प्राप्त होती है।

१. ध्यानी शारीरिक सुख-दुःख भाव से मुक्त हो जाता है।

२. ध्यानी चैतसिक सुख-दुःख से मुक्त हो जाता है।

३. वह उपेक्षा-भाव को प्राप्त होता है और उसकी चित्त-विशुद्धि हो जाती है।

रूपलोक-ध्यान में चित्त-विशुद्धि हो जाती है और उपेक्षा-भाव भी प्राप्त हो जाता है, परन्तु इसमें कर्मस्थान तथा प्रतिभाग-निमित्त रहता है, जिसके आधार पर संसार और शरीर के साथ सूक्ष्म सम्बन्ध बना रहता है। अतः, ध्यान को विना किसी कर्मस्थान अथवा परिकर्म-निमित्त रूप-विहीन होना चाहिये। यही कारण है कि अरूपलोक-ध्यान की आवश्यकता हो जाती है।

अरूपलोक-ध्यान (समापत्ति) :

अरूपलोक-ध्यान में भी परिकर्म-निमित्त रहता है, परन्तु यह असीमित रहता है, जिसे विशिष्टवस्तुविहीन कहा जा सकता है। इसी कारण इस प्रकार के ध्यान को अरूप कहते हैं। इन अरूप ध्यानों के आधार मन केवल वस्तुविहीन ही नहीं होता, वरन् क्रमशः यह व्यापक, गहरा और विशाल रूप प्राप्त कर अनात्म हो जाता है।

पाँचवाँ ध्यान : इस ध्यान में वस्तुविहीन अथवा निर्विशेष अपरिमित दिक् प्रतिभाग-निमित्त रहता है। इस प्रकार के रिक्त दिक् पर ध्यान टिकाये रहने पर नीवरणों का नाश होता है और सति या शक्ति (सतिमा) को बल मिलता है। इस स्थिति में किसी भी प्रकार की वस्तु चेतना का विषय नहीं रहती है, (१) न तो किसी भी वस्तु का रूप या आकार चित्त का विषय होता है, (२) न किसी भी इन्द्रिया-वासना की वस्तु और (३) न किसी भी प्रकार का शब्द, गन्ध

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

आदि चित्त का विषय होता है। ध्यानी केवल अपरिमित शुद्ध दिक् को अपने ध्यान का आलम्बन मानता है। साधारणतया बिना वस्तुविषय के शुद्ध दिक् का ध्यान करना सम्भव नहीं मालूम देता है। कान्त ने बिना वस्तु के शुद्ध दिक् के प्रत्यक्ष को प्रागनुभव कहा है, अर्थात् वह, जो अनुभव से परे, पूर्व और अतीत हो। परन्तु, यहाँ ध्यानी ऐसे चित्त को प्राप्त करना चाहता है, जो न केवल निर्विषय है, पर जो बिना किसी उपभोक्ता के अपनी अहम्मन्यता से भी परे और पूर्व हो। हमलोगों ने पहले ही देखा है कि निर्वाण को अतीत और वर्णनातीत माना गया है। ऐसी अवस्था में ध्यान में की गयी अनुभूति को विलक्षण अथवा असामान्य माना ही जायगा।

छठा ध्यान : बिना किसी भी वस्तुविषय के विज्ञान को प्राप्त किये रहना कठिन है। इसलिये शुद्ध रिक्त आकाश में विज्ञान रहता है और इसलिये इसमें भय रहता है कि कहीं इस विज्ञान का कोई विषय फिर से न प्राप्त हो जाय। पुनः दिक् में स्वयं ऊपर-नीचे छोटे-बड़े का भेद रहता है। इसलिये यहाँ चित्त सभी भेदों से परे निर्विषय नहीं रह पाता है। इस भय के निवारण करने के लिये छठे ध्यान में अपरिमित विज्ञान को ही प्रतिभाग-निमित्त बनाया जाता है। पाश्चात्य दार्शनिक इस अनुभूति को भी नहीं स्वीकार करेंगे; क्योंकि उनके अनुसार कोई भी चित्त बिना विषयवस्तु के सम्भव नहीं हो सकता है। परन्तु, बौद्ध ध्यानी शुद्ध चित्त की कल्पना को साधना का विषय मानते हैं। इसी अवस्था को आलय-विज्ञान कहा जाता है, जिसमें बिना किसी विषय या वस्तु के शुद्ध विज्ञान के होने की सम्भावना स्वीकार की जाती है। परन्तु, निर्वाणगति इस शुद्ध चित्त की गति से भी अतीत और गम्भीर है।

सातवाँ ध्यान : शुद्ध विज्ञान में भी कोई वस्तु नहीं पायी जाती है, परन्तु वस्तुविषय की सम्भावना अवश्य रहती है। इस आशंका से विमुक्त होने के लिये ध्यानी शून्यता को ही अपने ध्यान का आलम्बन बनाता है। यहाँ किसी भी विषय के प्रादुर्भाव होने की सम्भावना समाप्त हो जाती है। यद्यपि स्थूल चित्त नहीं रहता, तथापि सूक्ष्म चित्त ध्यानी में अवशेष रह जाता है।

आठवाँ ध्यान : ध्यान के इस अन्तिम चरण में न तो कोई विषय रहता है और न किसी विषयवस्तु की सूक्ष्म चेतना की सम्भावना ही रहती है। इस दशा में न तो किसी विषय की संज्ञा रहती, और न असंज्ञा। परन्तु, यहाँ चित्त-

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

विहीनता नहीं रहती है। यहाँ विशुद्ध और सूक्ष्मतम चित्त ही सम्भव रहता है। यह दशा वेदान्तियों की तुरीय अवस्था से बहुत मिलती-जुलती है। इस अवस्था में विशुद्ध उपेक्षाभाव ही रह जाता है, जिसमें ध्यानी को शान्ति, विशुद्धता और प्रशान्ति प्राप्त हो जाती है।

ब्रह्मविहार (अपरिमित) :

दुःख-निरोध-मार्ग का मुख्य उद्देश्य है कि आत्मभाव का विलयन हो। समाधि का मुख्य लक्ष्य यही है कि सम्यग्दृष्टि हो जाय, जिसमें क्षणभंगुरता उसी प्रकार सहजता से दिखे, जैसा प्रायः लोगों को वस्तुओं का सापेक्ष स्थायित्व दिखता है; अनित्यता उसी प्रकार ध्यानी को प्रतीत होने लगे, जिस प्रकार साधारणतया द्रव्यों की स्थिरता लोगों को दिखाई देती है; और अन्त में भिक्षु को आत्मज्ञान के स्थान पर अनात्मभावना सहजता से प्रतीत होने लगे। यद्यपि समाधि समष्टिपूर्ण प्रक्रिया है, तथापि इसमें संज्ञानात्मक प्रक्रियाओं और दृष्टियों को विशेष माना जाता है। इसलिये भाव-संवेगों के संशोधन और प्रक्षालन के लिये ब्रह्मविहार की आवश्यकता होती है। इनमें चार प्रकार के भावों का उल्लेख आता है, अर्थात् मैत्री, करुणा, मुदिता और उपेक्षाभाव। इसलिये इन्हें ब्रह्मविहार कहा है। इनके आधार पर भिक्षु ब्रह्मकायिक देवता के समान शुद्ध और पवित्र हो जाता है। इन चार भावों को अपनी अपरिमित सीमा तक व्यापक कर दिया जाता है, ताकि भाव सर्वव्यापक हो जायँ और किसी भी प्रकार भिक्षु को सीमित न रखें। भावों के प्रक्षालन के द्वारा ब्रह्मविहार को आत्मविलयन का विशुद्ध मार्ग समझा जा सकता है।

मित्रता-भावना में सर्वप्रथम उस पात्र को विषय बनाया जाता है, जिसके प्रति भिक्षु को सहज प्रेम होता है। उदाहरणार्थ, बुद्ध भगवान्। इस स्थल पर भी ध्यान रखना चाहिये कि कहीं इस प्रेम में राग न उत्पन्न हो जाय। इसके बाद इस प्रेम को अपने ऊपर आरोपित करना चाहिये, तब अपने मित्रों तथा गुरुजनों के प्रति। जब मैत्री-भावना जम जाय, तब अपने शत्रु के प्रति भी इस भावना को स्थिर करना सीखना चाहिये। इसके बाद अपने मठ के सभी व्यक्तियों के प्रति, तब समस्त ग्राम के प्राणियों के प्रति और इस प्रकार इस सीमा-सम्भेद को अधिक व्यापक बनाते रहना चाहिये। अन्त में सभी सीमाओं के भेद को तोड़कर अपनी मैत्री-भावना को सीमा-असम्भेद कर लिया जाता है।

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

इस अवस्था में मित्र-शत्रु सभी के प्रति समान रूप से भिक्षु मित्रताभाव बरतने लगता है।

फ्रॉयड के अनुसार द्वेष और प्रेम, दोनों बराबर मौलिक माने जा सकते हैं और इसमें भी द्वेष, हिंसा और विनाशकारी भाव को अधिक मौलिकता प्रदान की जा सकती है; क्योंकि अन्त में मृत्यु-काल में विनाश की ही जीत होती है। ठीक इसके विपरीत बौद्धों के अपरिमितता-सिद्धान्त में प्रेम की ही अन्तिम विजय होती है; क्योंकि राग-द्वेष को विजय कर भिक्षु समस्त प्राणियों के प्रति मैत्री-भावना को व्यापक बना लेता है।

करुणा-भावना को महायान-मत में विशेष स्थान दिया गया है। करुणा वह है, जिसमें दूसरों के दुःख को देखकर व्यक्ति के मन में दया का संचार होता है। इस प्रकार के ब्रह्मविहार में सबसे पहले किसी भिखारी को अपनी करुणा का विषय बनाया जाता है, या दण्ड भोगनेवाले अपराधी को। अन्त में, मैत्री-भावना के समान करुणा-भावना को अतिव्यापक रूप देकर सभी राग-द्वेष से मुक्त होकर शत्रुओं तक को अपनी करुणा-भावना का विषय बना लिया जाता है और फिर सीमा-असम्भेद को निबाहकर समस्त प्राणियों के प्रति करुणा दिखायी जाती है। बोधिसत्त्वों में इसी असीम करुणा के कारण जन्म-भार ग्रहण किया जाता है, ताकि समस्त प्रणिमात्र को अन्त में निर्वाण-गति की ओर प्रेरित किया जाय।

मुदित भावना वह है, जिसमें अन्य व्यक्तियों की सफलता से बिना विद्वेष-भाव के भिक्षु में प्रसन्नता होती है। यहाँ यह भाव-साधना सबसे पहले अपने अतिप्रिय मित्र के प्रति बरती जाती है और धीरे-धीरे अन्त में अपने शत्रुओं की सफलता से भी भिक्षु के अन्दर प्रसन्नता-भाव होने लगता है।

उपेक्षा-भावना पहली तीन अपरिमित भावनाओं तथा आठों ध्यानों की प्राप्ति के बाद ही सम्भव होती है। यह स्थिति सुख-दुःख से परे करुणा, मुदिता तथा मैत्री से परे भाव की अन्तिम दशा है। इसमें सभी भावों का अतिक्रमण और असम्भेद-भाव का प्रतिपालन होता है। यह पूर्ण शान्ति की अवस्था है। इस स्थिति में न अपनापन है और न परायापन। जब भिक्षु अपनाना ही छोड़ देता है, तो अन्य सभी भेद-भाव क्षीण होकर लुप्त हो जाते हैं।

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

ऋद्धियाँ :

पहले ही यह कहा गया है कि अवैदिक परम्परा में ब्रह्मचारी तपस्या के द्वारा अनेक अद्भुत शक्तियों को प्राप्त करते थे और इन्हीं शक्तियों के कारण समाज में उनका आदर होता था। इन्ही अद्भुत शक्तियों को बाद में चलकर ऋद्धि-सिद्धि की संज्ञा दी गयी है। लगभग सभी आध्यत्मिक उद्देश्य को स्वीकार करनेवाले भारतीय दर्शनों में भोग, ध्यान और समाधि को अपनाया गया है और इन दर्शनों का दावा रहा है कि इन साधनों के आधार पर साधक में अद्भुत शक्तियाँ उत्पन्न हो जाती हैं। यही बात बौद्ध धर्मदर्शन में बतायी जाती है कि समाधि की मध्यस्थ कड़ियों में भिक्षु के अन्दर ऋद्धियाँ उत्पन्न होने लगती हैं। ऋद्धियों को प्राप्त कर भिक्षु आकाश, पाताल, जल सभी स्थानों में सहजता से आ-जा सकता है, अपने इच्छानुसार किसी भी व्यक्ति अथवा पशु का रूप धारण कर सकता है इत्यादि। परन्तु, बुद्ध भगवान् ने बताया है कि साधक को इन ऋद्धियों में आसक्त नहीं होना चाहिये, नहीं तो वे अपनी निर्वाण-गति को नहीं प्राप्त कर सकेंगे। इन ऋद्धियों की प्राप्ति से केवल यह स्पष्ट हो जाता है कि साधक की साधना सही है और उसने सही मार्ग को अपनाया है। फिर, यदि वह ऋद्धियों की तृष्णा को छोड़ सकता है, तो वह सभी प्रकार की तृष्णाओं से विमुक्त होकर स्कन्ध का विलयन कर निर्वाण-गति को प्राप्त कर सकता है।

प्रज्ञा :

दुःख-निरोध-मार्ग के अन्तर्गत शील, समाधि और प्रज्ञा ये तीन विधियाँ गिनी जाती हैं। शील के द्वारा भिक्षु अपने भाव-संवेग, तृष्णा आदि का नियन्त्रण करता है और निर्वाणगति की प्राप्ति के लिये अपने को तैयार करता है। शील की उपक्रमिक प्रक्रिया के बाद समाधि की शरण ली जाती है, जिसमें भाव-संवेग, तृष्णा तथा आत्मभाव का भी कुछ काल तक उन्मूलन हो जाता है और समाधि के पूर्ण हो जाने पर निर्वाणगति का अल्पकालीन आस्वादन होता है, अर्थात् जबतक समाधि की स्थिति जारी रहती है। इस निर्वाण-प्राप्ति को स्थायी करने के लिये प्रज्ञा की सहायता ली जाती है। वास्तव में देखा जाय, तो शील और समाधि की शिक्षा प्रायः अन्य भारतीय धर्मदर्शनों में भी पायी जाती है। परन्तु, अनात्मवाद बौद्ध दर्शन की विशेष

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

देन है और इस अवस्था की प्राप्ति के लिये प्रज्ञा इसका मुख्य साधन है। प्रज्ञा द्वारा अनात्मभावना को स्थायी रूप दिया जाता है।

हमलोगों ने देखा है कि अहम्मन्यता पंच तत्त्वों के स्कन्ध पर निर्भर करती है, अर्थात् १. रूप, जो भौतिक तत्त्व है, वह जल, अग्नि, वायु और पृथ्वी से बनता है। २. वेदना, ३. सज्ञा, ४. संस्कार और ५. विज्ञान।

यदि अहंभाव का हम विश्लेषण करें, तो इसमें अन्त में हम अहंभाव को कहीं नहीं पायेंगे। उदाहरणार्थ, हमलोग साधारणतया कहते हैं, मेरे दाँत में दर्द है। परन्तु, यदि इसका सही-सही विश्लेषण करें, तो इसमें निम्नांकित तत्त्व पाये जाते हैं :

१. भौतिक पदार्थ दाँत है, जिसका मसूढ़ा फूला हुआ है (रूप)।

२. दुःख की वेदना पायी जाती है (वेदना)।

३. दाँत और फूले हुए मसूढ़े का प्रत्यक्ष (संज्ञा)।

४. इस दाँत के दर्द के दूर करने की प्रवृत्ति (संस्कार)।

५. इन सब बातों की चेतना (विज्ञान)।

यहाँ 'अहंभाव' अथवा 'आत्मा' का कहीं स्थान नहीं दिखता है। यह ठीक है कि समाधि के आधार पर भिक्षु उपेक्षाभाव को प्राप्त हो जाता है, परन्तु इसे स्थायी करने के लिये सभी स्थलों पर आत्मनिर्देश को त्यागकर भिक्षु को निर्वैयक्तिक दृष्टि अपनानी पड़ती है। दाँत में दर्द है, पर यह 'मेरा' दर्द नहीं है। दाँत है, पर यह 'मेरा' दाँत नहीं है; विज्ञान है, पर मेरी चेतना नही है। इसी बात को पाश्चात्य विचारक और साधक स्पिनोजा ने बताया था कि प्रत्येक घटना को उसके शाश्वत पट से देखना चाहिये (Sub specic aeternitatis)। दुःख है, परन्तु यह विश्व का, न कि मेरा दुःख है। स्कन्ध अथवा संघात के विलयन के बाद समग्रत्व का, जिसका दूसरा नाम 'आत्मा' अथवा अहंमन्यता है, अपने-आप विलयन हो जाता है। भिक्षु अपनी अहम्मन्यता को त्याग कर अर्हत् बन जाता है।

प्रज्ञा के अध्ययन से स्पष्ट हो जाता है कि जिस प्रकार सांख्यदर्शन में साधक पुरुष और प्रकृति के सम्भेद का ख्यातिज्ञान प्राप्त करता है, ठीक उसी

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

प्रकार बौद्ध दर्शन में इसी स्कन्ध के संघटक तत्त्वों के परिज्ञान से इस स्कन्ध का ही विलयन हो जाता है, जिस स्कन्ध के रहने पर ही 'अहंभाव' अथवा अज्ञान (अविद्या) की जड़ जमी हुई रहती है। अतः, अनवरत परिश्रम के फलस्वरूप अनात्मभाव हो जाता, सभी घटनाओं का क्षणिकत्व स्पष्ट हो जाता और सभी वस्तुओं की अनित्यता प्रतीत होने लगती और अर्हत् में उपेक्षाभाव का भान होने लगता है।

बौद्ध कथनों की अर्थपूर्णता :

बौद्ध धर्म-कथन एक ही प्रकार के नहीं हैं। उनमें कुछ कथन ऐतिहासिक हैं, कुछ नीतिपरक, तत्त्वमीमांसीय और कुछ शुद्ध धार्मिक कथन हैं। विभिन्न प्रकार के कथनों की अर्थपूर्णता भी विभिन्न कसौटियों से निर्धारित की जाती है। उदाहरणार्थ :

'बुद्ध भगवान् ने गया में बोधिलाभ किया।' इस कथन की अर्थपूर्णता ऐतिहासिक है और इसकी कसौटी भी आनुभविक, अर्थात् ऐतिहासिक ही होगी। इसी प्रकार, नीतिपरक कथनों की अर्थपूर्णता की भी अपनी विधि है। परन्तु, तत्त्वमीमांसीय और धार्मिक कथनों की अर्थपूर्णता की अपनी स्वजातीय, अर्थात् विशिष्ट कसौटी है। चूँकि, बौद्ध कथन तत्त्वमीमांसा से बहुत ओतप्रोत हैं, इसलिये इस स्थल पर इन्हें धार्मिक कथनों की विधि से विभिन्न नहीं किया जा सकता है।

प्रारम्भिक बौद्ध धर्म की तीन मूल मान्यतायें हैं, अर्थात् प्रतीत्यसमुत्पाद, क्षणिकवाद और अनात्मवाद। इन तीनों मूल सिद्धान्तों को बुद्ध भगवान् ने बोधि द्वारा प्राप्त किया था, अर्थात् ये वे निर्णय हैं, जिन्हें बुद्ध भगवान् को मूल सत्य के रूप में दिखाई दिया। ये मूल सिद्धान्त न तो सत्य हैं और न असत्य। यदि इन सिद्धान्तों के आधार पर उन लक्ष्यों की प्राप्ति हो सकती हैं, जिनके लिये ये मूल निर्णय स्थापित किये गये थे, तो इन्हें सफल समझा जायगा। बुद्ध भगवान् ने जीवन के लक्ष्य को शान्ति या उपेक्षाभाव की प्राप्ति माना है। यदि इन सिद्धान्तों के आधार पर शील, समाधि तथा ऐसी प्रज्ञा की स्थापना हो जाय, जिनसे उपेक्षाभाव की प्राप्ति हो जाती है, तो इस सन्दर्भ में इन मूल निर्णयों को भी सफल और सिद्ध समझा जायगा।

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

धार्मिक कथन प्रायः श्रद्धामूलक होते हैं और इन्हें दृढ़ विश्वासपरक समझा जाता है। इस रूप में इन्हें असंज्ञानात्मक समझा जाता है। भगवान् ने बौद्ध कथनों के सम्बन्ध में स्पष्ट कहा है कि निर्वाण कोई वस्तु नहीं है, जिसे प्राप्त किया जाता है और जिसका वर्णन प्रस्तुत किया जा सकता है। अन्त में, निर्वाण-कथा आत्मनिष्ठ आत्मकथात्मक कथन हैं, जिन्हें केवल निर्वाणप्राप्त व्यक्ति अनुभूत कर सकता है, परन्तु जिन्हें वह शब्दों द्वारा व्यक्त नही कर सकता है। परन्तु, समकालीन दर्शन में किसी भी अनुभूति को मूक नहीं समझा जाता है। ठीक है कि गूँगा गुड़ की मिठास का आस्वादन करता है, परन्तु उसे वह कृत्रिम भाषा में व्यक्त नहीं कर सकता है। परन्तु, शारीरिक व्यापार यहाँ पाये जाते हैं और इन व्यापारों द्वारा जाना जा सकता है कि गुड़ का आस्वादन गूँगे को प्रिय है, या नहीं। यदि गूँगा गुड़ की ओर बार-बार हाथ पसारता है, गुड़ के छिनने पर लालायित नेत्रों से गुड़ को देखता है; गुड़ के मिल जाने पर शान्ति रहती है इत्यादि, तो इन शारीरिक व्यापारों से स्पष्ट हो जाता है कि गूँगे को गुड़ का आस्वादन प्रिय मालूम दे रहा है। इसी प्रकार की निर्वाणगति भी है, जिसे आत्मनिष्ठ तथा आत्मकथात्मक कहा जा सकता है और जिनकी अर्थपूर्णता भी शारीरिक व्यापार द्वारा स्पष्ट की जा सकती है। परन्तु, इसमें कुछ कठिनाइयाँ प्रतीत होती हैं। निर्वाणगति को अनात्मभावमूलक माना गया है। यदि वास्तव में निर्वाण की दशा में आत्मभाव नहीं रहता है, तो निर्वाण-कथा को न तो आत्मनिष्ठ ही कहा जा सकता है और न आत्मकथामूलक। यही कारण है कि अन्तिम ध्यान की स्थिति को 'संज्ञा-संज्ञा' कहा गया है। फिर राजा मिलिन्द द्वारा बार-बार प्रश्न किये जाने पर भदन्त नागसेन मौन रहे और अन्त में बताया—'निर्वाणं शान्तं।' परन्तु, इस अवस्था में भी अन्य अर्हत् बता सकते हैं कि अमुक भिक्षु ने अन्त में निर्वाण प्राप्त किया है, या नहीं। निर्वाण-कथन की अर्थपूर्णता निम्नांकित रूप से निर्धारित की जा सकती है :

१. चूँकि अर्हत् में स्कन्ध का विलयन हो जाता है, इसलिये शारीरिक कष्ट को वह शारीरिक समझता है और उसे वह अपना दर्द नहीं मानता है। इसलिये, दाँत में दर्द होने पर या शरीर के किसी भाग में भी कष्ट होने पर अर्हत् में व्याकुलता, बेचैनी नहीं पायी जाय, तो इस अनुभव को उपेक्षामूलक समझा जा सकता है। अतः, मौन धारण कर लेने पर भी निर्वाण-कथन की पुष्टि शारीरिक व्यापार से स्पष्ट की जा सकती है।

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

२. फिर, चूँकि अर्हत् में अहंभाव नहीं होता और उसमें आत्मभाव का अभाव रहता है, इसलिये भाव-संवेगों के आश्रय (अर्थात्, आत्मा) के नहीं रहने पर अर्हत् में दुश्चिन्ता, भय आदि का भी संचार नहीं होता है। अतः, न मृत्यु-भय और न पाप-भय अर्हत् को हिला सकता है। अतः, मौन निर्वाण-कथन की अर्थपूर्णता आन्तरिक स्वच्छन्दता तथा निर्भय व्यवहार से निर्धारित होती है।

३. शारीरिक निश्चलता तथा मुख की आभा से अर्हत्त्व भाँपा जा सकता है।

४. मानव और सभी प्राणियों के प्रति मैत्री, करुणा, मुदिता तथा सभी घटनाओं अथवा स्थितियों में उपेक्षाभाव को व्यापार द्वारा जाना जा सकता है और इन व्यापारों से निर्वाण-कथन की अर्थपूर्णता जानी जा सकती है।

५. यह ठीक है कि शुद्ध निर्वाण को शान्त कहा गया है और इसे सब प्रकार से वर्णनातीत भी माना गया है। परन्तु, यहाँ भी शारीरिक निस्तब्धता आदि पायी ही जाती है। अब यदि शारीरिक व्यापार पर अधिक बल न दिया जाय, तो भी अर्हत् अपनी अनुभूति का प्रतिवेदन अन्य अर्हतों को, विशेषकर गुरु को देता ही है। यह ठीक है कि साधारणतया अरूपलोक-ध्यान की अनुभूतियों को साधारण व्यक्ति नहीं समझ सकते हैं; क्योंकि वस्तुविहीन आकाश, निर्विषय विज्ञान तथा शून्य की कल्पना करना अति कठिन कार्य कहा जायगा। परन्तु, इन अनुभूतियों की वास्तविकता को निर्वाण-प्राप्त गुरु मूल्यांकित कर सकता है।

६. यदि अर्हतों में अरूपलोक-ध्यान तथा प्रज्ञाप्राप्ति को संज्ञापनीय नहीं समझा जाता, तो वे इस प्रकार की अनुभूतियों की क्रमिक व्यवस्था का उल्लेख नहीं कर पाते। कम-से-कम रूपलोक-ध्यान के चरणों से स्पष्ट हो जाता है कि ध्यानी धीरे-धीरे स्थूल से सूक्ष्म विज्ञान के प्रति प्रगति कर रहा है और यही बात अरूपलोक-ध्यान के प्रतिकर्म-निमित्त अथवा कर्मस्थान के विषय भी कही जा सकती है। किसी भी क्रमिक विकास में निम्नतर अवस्थाओं की पुष्टि उच्चतर अवस्थाओं द्वारा की जाती है। फिर, उच्चतर अवस्थाओं का पूर्वाभास निम्नतर अवस्थाओं में पाया जाता है। अतः, क्रमिक अवस्थाएँ यदि स्थिर रहें, तो इन अवस्थाओं से सम्बद्ध कथनों की अर्थपूर्णता तदनुरूप अनुभव द्वारा निर्धारित की जाती है। उदाहरणार्थ, ध्यान के प्रथम चरण में वितर्क और

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

धार्मिक कथन प्रायः श्रद्धामूलक होते हैं और इन्हें दृढ़ विश्वासपरक समझा जाता है। इस रूप में इन्हें असंज्ञानात्मक समझा जाता है। भगवान् ने बौद्ध कथनों के सम्बन्ध में स्पष्ट कहा है कि निर्वाण कोई वस्तु नहीं है, जिसे प्राप्त किया जाता है और जिसका वर्णन प्रस्तुत किया जा सकता है। अन्त में, निर्वाण-कथा आत्मनिष्ठ आत्मकथात्मक कथन हैं, जिन्हें केवल निर्वाणप्राप्त व्यक्ति अनुभूत कर सकता है, परन्तु जिन्हें वह शब्दों द्वारा व्यक्त नहीं कर सकता है। परन्तु, समकालीन दर्शन में किसी भी अनुभूति को मूक नहीं समझा जाता है। ठीक है कि गूँगा गुड़ की मिठास का आस्वादन करता है, परन्तु उसे वह कृत्रिम भाषा में व्यक्त नहीं कर सकता है। परन्तु, शारीरिक व्यापार यहाँ पाये जाते हैं और इन व्यापारों द्वारा जाना जा सकता है कि गुड़ का आस्वादन गूँगे को प्रिय है, या नहीं। यदि गूँगा गुड़ की ओर बार-बार हाथ पसारता है, गुड़ के छिनने पर लालायित नेत्रों से गुड़ को देखता है; गुड़ के मिल जाने पर शान्ति रहती है इत्यादि, तो इन शारीरिक व्यापारों से स्पष्ट हो जाता है कि गूँगे को गुड़ का आस्वादन प्रिय मालूम दे रहा है। इसी प्रकार की निर्वाणगति भी है, जिसे आत्मनिष्ठ तथा आत्मकथात्मक कहा जा सकता है और जिनकी अर्थपूर्णता भी शारीरिक व्यापार द्वारा स्पष्ट की जा सकती है। परन्तु, इसमें कुछ कठिनाइयाँ प्रतीत होती हैं। निर्वाणगति को अनात्मभावमूलक माना गया है। यदि वास्तव में निर्वाण की दशा में आत्मभाव नहीं रहता है, तो निर्वाण-कथा को न तो आत्मनिष्ठ ही कहा जा सकता है और न आत्मकथामूलक। यही कारण है कि अन्तिम ध्यान की स्थिति को 'संज्ञा-संज्ञा' कहा गया है। फिर राजा मिलिन्द द्वारा बार-बार प्रश्न किये जाने पर भदन्त नागसेन मौन रहे और अन्त में बताया—'निर्वाणं शान्तं।' परन्तु, इस अवस्था में भी अन्य अर्हत् बता सकते हैं कि अमुक भिक्षु ने अन्त में निर्वाण प्राप्त किया है, या नहीं। निर्वाण-कथन की अर्थपूर्णता निम्नांकित रूप से निर्धारित की जा सकती है :

१. चूँकि अर्हत् में स्कन्ध का विलयन हो जाता है, इसलिये शारीरिक कष्ट को वह शारीरिक समझता है और उसे वह अपना दर्द नहीं मानता है। इसलिये, दाँत में दर्द होने पर या शरीर के किसी भाग में भी कष्ट होने पर अर्हत् में व्याकुलता, बेचैनी नहीं पायी जाय, तो इस अनुभव को उपेक्षामूलक समझा जा सकता है। अतः, मौन धारण कर लेने पर भी निर्वाण-कथन की पुष्टि शारीरिक व्यापार से स्पष्ट की जा सकती है।

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

२. फिर, चूंकि अर्हत् में अहंभाव नहीं होता और उसमें आत्मभाव का अभाव रहता है, इसलिये भाव-संवेगों के आश्रय (अर्थात्, आत्मा) के नहीं रहने पर अर्हत् में दुश्चिन्ता, भय आदि का भी संचार नहीं होता है। अतः, न मृत्यु-भय और न पाप-भय अर्हत् को हिला सकता है। अतः, मौन निर्वाण-कथन की अर्थपूर्णता आन्तरिक स्वच्छन्दता तथा निर्भय व्यवहार से निर्धारित होती है।

३. शारीरिक निश्चलता तथा मुख की आभा से अर्हत्त्व भाँपा जा सकता है।

४. मानव और सभी प्राणियों के प्रति मैत्री, करुणा, मुदिता तथा सभी घटनाओं अथवा स्थितियों में उपेक्षाभाव को व्यापार द्वारा जाना जा सकता है और इन व्यापारों से निर्वाण-कथन की अर्थपूर्णता जानी जा सकती है।

५. यह ठीक है कि शुद्ध निर्वाण को शान्त कहा गया है और इसे सब प्रकार से वर्णनातीत भी माना गया है। परन्तु, यहाँ भी शारीरिक निस्तब्धता आदि पायी ही जाती है। अब यदि शारीरिक व्यापार पर अधिक बल न दिया जाय, तो भी अर्हत् अपनी अनुभूति का प्रतिवेदन अन्य अर्हतों को, विशेषकर गुरु को देता ही है। यह ठीक है कि साधारणतया अरूपलोक-ध्यान की अनुभूतियों को साधारण व्यक्ति नहीं समझ सकते हैं; क्योंकि वस्तुविहीन आकाश, निर्विषय विज्ञान तथा शून्य की कल्पना करना अति कठिन कार्य कहा जायगा। परन्तु, इन अनुभूतियों की वास्तविकता को निर्वाण-प्राप्त गुरु मूल्यांकित कर सकता है।

६. यदि अर्हतों में अरूपलोक-ध्यान तथा प्रज्ञाप्राप्ति को संज्ञापनीय नहीं समझा जाता, तो वे इस प्रकार की अनुभूतियों की क्रमिक व्यवस्था का उल्लेख नहीं कर पाते। कम-से-कम रूपलोक-ध्यान के चरणों से स्पष्ट हो जाता है कि ध्यानी धीरे-धीरे स्थूल से सूक्ष्म विज्ञान के प्रति प्रगति कर रहा है और यही बात अरूपलोक-ध्यान के प्रतिकर्म-निमित्त अथवा कर्मस्थान के विषय भी कही जा सकती है। किसी भी क्रमिक विकास में निम्नतर अवस्थाओं की पुष्टि उच्चतर अवस्थाओं द्वारा की जाती है। फिर, उच्चतर अवस्थाओं का पूर्वाभास निम्नतर अवस्थाओं में पाया जाता है। अतः, क्रमिक अवस्थाएँ यदि स्थिर रहें, तो इन अवस्थाओं से सम्बद्ध कथनों की अर्थपूर्णता तदनुरूप अनुभव द्वारा निर्धारित की जाती है। उदाहरणार्थ, ध्यान के प्रथम चरण में वितर्क और

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

विचार पाये जाते हैं। परन्तु, यहाँ भी आभासित होने लगता है कि ये चैतसिक प्रक्रियायें स्थूल हैं और ध्यानी को सूक्ष्म चेतना की ओर प्रगति करनी चाहिये। अब वितर्क-विचार की स्थूलता तभी पुष्ट समझी जायगी, जब इनके विलयन के बाद चित्त की सूक्ष्मता प्राप्त हो और दूसरे ध्यान में यह स्थिति प्राप्त हो जाती है। अतः, वितर्क-विचार की स्थूलता ध्यान के दूसरे चरण से सिद्ध हो जाती है। इस दृष्टि से सिद्धान्ततः सप्तम ध्यान की पुष्टि अन्तिम ध्यान में होती है और अन्तिम ध्यान का भी पूर्वाभास सातवें ध्यान में अनुभूत होता है। अतः, बौद्ध कथनों की अर्थपूर्णता समाधि-अनुभवों की क्रमिक व्यवस्था के आधार पर सिद्धान्ततः सम्भव समझी जायगी।

७. फिर ध्यानी को समाधि की उच्चतर अवस्थाओं को प्राप्त करने पर ऋद्धियों की प्राप्ति होती है। यद्यपि इन ऋद्धियों को आध्यात्मिक उपलब्धियाँ नहीं माना जाता है, तथापि इनकी प्राप्ति से स्पष्ट हो जाता है कि ध्यानी अपने प्रयास में बहुत दूर तक सफल हो गया है और ध्यान-कथन वास्तव में अनुभूति के बोधक हैं :

८. अन्त में, वास्तव में निर्वाण-कथन सत्य हैं या असत्य, यह अनावश्यक प्रश्न है। सही समस्या है; क्या निर्वाण-गति परीक्षणीय है या नहीं ? कोई भी धार्मिक कथन अलग-अलग सत्यापनीय नहीं होते। अन्तिम रूप में धार्मिक कथनों की सत्यापनीयता धर्मावलम्बियों के जीवन और उनकी निर्भय मृत्यु द्वारा मूल्यांकित होती है। बुद्ध भगवान् के जीवन और उनकी मृत्यु से उनके आदेशों का स्पष्टीकरण होता है। इसी प्रकार आनन्द, मौद्गल्यायन तथा सारिपुत्र के जीवन से ही बौद्ध कथनों की अर्थपूर्णता अभिव्यक्त होती है। यदि इन जीवनियों से मानव अनुप्राणित हों और वे उनके पद-चिह्नों पर चलने के लिये उत्प्रेरित हों, तो ये उत्प्रेरणायें बौद्ध कथनों की अर्थपूर्णता कही जायेंगी।

मेरी समझ में शील, समाधि और प्रज्ञा-सम्बन्धी कथन वास्तव में अर्थपूर्ण हैं। समाधि एक प्रकार का 'अनुभूति-विषयक' प्रयोग है और सिद्धान्ततः इसे अनुभव द्वारा अर्थपूर्ण माना जायगा। परन्तु, मुख्य प्रश्न है : क्या निर्वाण-गति को इस युग में भी स्वीकारा जा सकता है ? क्या ऐहिकतावादी युग में निर्वाण-प्राप्ति को जीवन का चरम उद्देश्य स्वीकारा जा सकता है ?

जीवन का चरम उद्देश्य एक प्रकार का नहीं होता। गान्धीजी के युग में स्वतन्त्रता-संग्राम में सामाजिक पदों को छोड़कर जेल जाना महान् और पुनीत

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

के लिये इसे रचित अथवा उत्पादित बताया गया है। परन्तु, जो कुछ भी उत्पादित होता है, वह अनित्य होता है। इसलिये यहाँ 'उत्पादित' हेतु बताकर नित्यता सिद्ध करने के बजाय इसके विरोध में प्रमाण बताया गया है, इसलिये इसे विरुद्ध हेत्वाभास कहा जाता है। परन्तु, ईश्वर-साधक पंचावयव में विरुद्ध हेत्वाभास नहीं देखने में आता है। यहाँ साध्य है (अर्थात्, सिद्ध करना है) कि जगत् का रचयिता ईश्वर है। इसके लिये हेतु कहा जाता है कि वास्तव में पर्वत, समुद्र आदि घट-पट के समान कार्य हैं। यहाँ पंचावयव का उल्लेखनीय भाग होगा, पर्वत, समुद्र आदि घट-पट के समान सप्रयोजन कार्य हैं; क्योंकि ये अभिकल्पात्मक हैं।

यहाँ हेतु न्यायसंगत है; क्योंकि अभिकल्प के रहने पर बुद्धियुक्त कारण को अनिवार्यतः सत्य माना जाता है। यह ठीक है कि उदयनाचार्य ने विश्व में व्यवस्था तथा अभिकल्प को विशेष रूप से प्रदर्शित करने की आवश्यकता नहीं समझी, परन्तु नैयायिक द्व्यणुक, त्र्यणुक आदि के उत्पादन में ही बुद्धि का खेल समझते हैं। फिर, उद्योतकराचार्य ने स्पष्ट रीति से 'न्यायवार्त्तिक' में कहा है कि ईश्वर ने मानव के कल्याण-हेतु तथा नैतिक अर्घ्यों को ध्यान में रखकर इस जगत् की रचना की है। अतः, नैयायिक विश्व को सकर्तृक मानने के लिये वैध (न्यायसंगत) रीति से बताते हैं कि जगत् घटवत् अभिकल्पात्मक कार्य है। इसलिये, इस ईश्वर-समर्थक न्यायप्रयोग में विरुद्ध हेत्वाभास नहीं है।

इस न्यायप्रयोग में अनैकान्तिक अथवा सव्यभिचार हेत्वाभास भी नहीं है। पहले ही बताया जा चुका है, कि अनैकान्तिक दोष तब उत्पन्न होता है, जब अमुक हेतु साध्य के साथ भी हो और साध्य से अलग भी भिन्न घटना के साथ हो। जैसे, वह गाय है; क्योंकि इसको सींग है।

यहाँ सींग गाय (साध्य) के साथ भी पायी जाती है, और अन्य पशुओं में भी (जैसे बकरी, भैंस आदि में)। इसलिये, हेतु को अनेक आश्रयी होने के कारण इसे अनैकान्तिक हेत्वाभास कहा गया है। अब ईश्वर-समर्थक न्यायप्रयोग में अनैकान्तिक दोष नहीं पाया जाता है। क्योंकि, अभिकल्पात्मक कार्य (हेतु) बुद्धिमान् कर्त्ता में पाया जाता है, अर्थात् बुद्धिमान् कर्त्ता (साध्य) को छोड़कर अन्यत्र अभिकल्पात्मक अथवा उद्देश्यमूलक कार्य नहीं पाया जाता है, इसलिये यहाँ अनैतिकान्तिक दोष नहीं पाया जाता है।

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

इस उक्त न्यायप्रयोग में **बाधित (अथवा कालातीत)** हेत्वाभास भी नहीं पाया जाता है। जब जिस हेतु को, साध्य को प्रमाणित करने के लिये प्रस्तुत किया जाता है और जब प्रस्तुत हेतु की अपेक्षा अन्य अधिक प्रबल प्रमाण इस अमुक हेतु को बाधित (खण्डित) कर देता है, तब बाधित हेत्वाभास उत्पन्न होता है। जसे, आग शीतल होती है; क्योंकि यह जल के समान है।

यहाँ प्रत्यक्ष के आधार पर हम जानते हैं कि आग उष्ण है, न कि शीतल और प्रत्यक्ष को ज्येष्ठ प्रमाण कहा जाता है, अर्थात् अनुमान की अपेक्षा प्रत्यक्ष को अधिक बलवान् समझा जाता है। अतः, आग की शीतलता प्रस्तुत हेतु के प्रत्यक्ष द्वारा खण्डित हो जाने पर यहाँ बाधित हेत्वाभास हो जाता है। परन्तु, ईश्वर-समर्थक पंचावयव में बाधित नहीं पाया जाता है; क्योंकि इसमें प्रस्तुत कार्यत्व-हेतु को प्रत्यक्ष तथा सर्वसाधारण एवं आवृत्तीय अनुभव द्वारा नहीं खण्डित किया जा सकता है।

अन्त में, इस ईश्वर-समर्थक पंचावयव में **सत्प्रतिपक्ष (अथवा प्रकरणसम)** हेत्वाभास भी नहीं पाया जाता है। जब दो पारस्परिक विरोधी हेतु बराबर रूप में ऐसा बली होते कि एक हेतु साध्य को सिद्ध करता है और दूसरा इसे अप्रमाणित करता है, तब यहाँ प्रकरणसम अथवा सत्प्रतिपक्ष हेत्वाभास हो जाता है। जैसे, शब्द नित्य है; क्योंकि यह निरवयव है (निरवयवत्व हेतु है)। फिर, शब्द अनित्य है; क्योंकि यह संयोग से उत्पादित होता है (जैसे डण्डे-ढोल का संयोग)। यहाँ निरवयवत्व और उत्पादन होना दो विरोधी हेतु हैं। यदि 'निरवयवत्व' शब्द को नित्य सिद्ध करता है, तो 'उत्पादितत्व' शब्द को अनित्य प्रमाणित करता है। ईश्वर-समर्थक पंचावयव में जगत् को सावयव होने के कारण कार्य माना गया है। परन्तु, किसी भी हेतु के द्वारा इस जगत् को अजन्य (अर्थात् अनुत्पादित) नहीं सिद्ध किया गया है। इसलिये, इसमें सत्प्रतिपक्ष हेत्वाभास भी नहीं पाया जाता है।

अतः, उदयनाचार्य के अनुसार ईश्वर-समर्थक पंचावयव सभी प्रकार से निर्दोष तथा न्यायसंगत अनुमान है। परन्तु, बौद्ध, जैन तथा मीमांसक तर्कशास्त्री इस ईश्वर-समर्थक युक्ति का प्रारम्भ से ही विरोध करते चले आ रहे हैं। ईश्वरवादी शंकर, रामानुज, कान्त तथा अन्य धर्मदार्शनिक भी जानते हैं कि ईश्वर युक्तियों के द्वारा प्रमाणित नहीं किया जा सकता है। ईश्वर-सम्बन्धी युक्तियाँ वास्तव में प्रमाण नहीं, वरन् मानव-मन को ईश्वर के प्रति

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

प्रवृत्त करने के लिये अनुनय-मात्र (Persuasion pleas) हैं। इस बात पर जॉन विस्डम ने बहुत बल दिया है।[१] इसी बात को ध्यान में रखकर उदयनाचार्य ने 'न्यायकुसुमांजलि' के प्रथम अध्याय में ही बताया है, कि सभी लोग किसी-न-किसी रूप में ईश्वर की उपासना करते हैं।[२] वेदान्तिक ईश्वर को शुद्ध, बुद्ध तथा स्वप्रकाश सत् कहकर, कपिल के अनुयायी ईश्वर को सिद्ध, ऐश्वर्ययुक्त, आदिविद्वान् मानकर, क्लेश-कर्म-विपाक आदि से मुक्त, वेद को प्रकाशित करनेवाले तथा घट-पट आदि की प्रथम शिक्षा देनेवाले को ईश्वर समझकर, शैव शिव को, वैष्णव पुरुषोत्तम रूप में ईश्वर को मानते, बौद्ध क्षणिकत्व आदि परम ज्ञान के सर्वज्ञाता के रूप में, जैन दिगम्बर के रूप में, मीमांसक मन्त्र-देवता के रूप में तथा चार्वाक लोकव्यवहारसिद्ध को ईश्वर के रूप में उपासते हैं। अतः, उदयनाचार्य के अनुसार मानव विना ईश्वर की उपासना के नहीं रह सकता है। इसे पाश्चात्य धर्मविचारक Religion a priori संज्ञा देते हैं, अर्थात् मानव की यह पूर्वमान्यता है कि वह विना धर्म के नहीं हो सकता है। इस पूर्वमान्यता को युगप्रवर्त्तक विचारक बॉनहोयफर ने चुनौती दी है। फिर, यदि मान लिया जाय कि मानव विना धर्म के नहीं रह सकता है, तो समाजवाद, साम्यवाद, मानवतावाद आदि को भी 'धर्म' संज्ञा दी जायगी और असाक्षात् रीति से उदयनाचार्य ने इसे स्वीकार किया है; क्योंकि उन्होंने लोकव्यवहार सिद्ध को चार्वाक के लिये भी उपास्य ईश्वर माना है, अर्थात् धार्मिक विषय कहा है।[३] जो भी मत जैन, बौद्ध तथा जडवादियों के विषय में अपनाया जाय, कम-से-कम इन लोगों ने व्यक्तित्वपूर्ण, सृष्टिकर्त्ता-पालक-संहारक तथा कर्मफलदाता के रूप में ईश्वर के अस्तित्व को अस्वीकार किया है और उदयनाचार्य की ईश्वर-समर्थक युक्तियों का खण्डन किया है। यहाँ नमूने के तौर पर गुणरत्न के द्वारा उदयनाचार्य के पंचावयवी अनुमान का खण्डन प्रस्तुत किया जायगा।

---

१. देखें, John Wisdom, *Gods*, Proceedings of Aristotelian Society, 1944-1945. इस लेख को अनेक संकलनों में स्थान दिया गया है। एक संकलन जॉन हिक का है। देखें, Classical and Contemporary Readings in the Philosophy of Religion.

२. प्रथम स्तवक, १।१।

३. या० मसीह, समकालीन धर्मदर्शन, पृ०, ६–१०, १२; Y. Masih, Introduction to Religious Philosophy, pp. 4-7 (Motilal Banarsidass, 1971)

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

गुणरत्न द्वारा उदयनाचार्य-कृत ईश्वर-समर्थक तर्क का खण्डन :

यह ठीक है कि अनेक स्थलों पर गुणरत्न ने अपनी आपत्तियों में केवल बाल की खाल निकाली है। परन्तु, इन आपत्तियों से दो बातें निकलती हैं। एक यह कि जैन शुद्ध रूप से निरीश्वरवादी हैं, और वे कोई भी ऐसा अवसर नहीं चूकते, जिसमें उन्हें ईश्वरवाद को खण्डित करने का प्रसंग प्राप्त होता है। दूसरी बात है कि इन कोरी आपत्तियों में समकालीन निरीश्वरवादी तर्कों का पूर्वाभास स्पष्ट दिखता है, जिनका उल्लेख यथास्थान किया जायगा। इन दोनों बातों को ध्यान में रखकर अब गुणरत्न द्वारा उदयनाचार्य के ईश्वर-समर्थक तर्क का खण्डन प्रस्तुत किया जायगा।

(अ) **कार्य-विषयक आपत्तियाँ :** गुणरत्न के अनुसार 'कार्य' के चार सम्भव अर्थ हो सकते हैं :

१. वह, जो संघटकों से निर्मित होता है।

२. वह, जो कार्य के पूर्व अपने संघटकों में समवेत रहता है।

३. वह, जो ज्ञान का इस प्रकार का ज्ञेय होता है, 'यह उत्पादित है'।

४. वह, जिसमें विकार अथवा परिवर्त्तन पाया जाता है।

संघटकों से निर्मित होने के भी चार सम्भव अर्थ हो सकते हैं :

१. (क) संघटकों में कार्य का विद्यमान रहना।

१. (ख) संघटकों द्वारा कार्य का उत्पादित होना।

१. (ग) वह, जिसमें विभिन्न अंग या प्रदेश हैं।

१. (घ) वह, जिसके विषय में ज्ञान हो कि 'यह संघटकों से निर्मित है।'

१. (क) परन्तु, कार्य परिवर्त्तनशील होता है, अर्थात् इसका आदि-अन्त होता है। परन्तु, यदि कार्य अवयवों से निर्मित हो, तो प्रत्येक अवयव में अवयवित्व अथवा संघटकत्व होगा। अवयवों का जाति-गुण अथवा सामान्य है और नैयायिकों के अनुसार सामान्य नित्य होता है। तो इस नित्य निरवयवित्व का कोई कारण नहीं हो सकता। इसलिये, नित्य निरवयवित्व से परिवर्त्तनशील कार्य नहीं हो सकता।

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

१. (ख) इसी प्रकार, ईश्वर भी नित्य परमाणुओं तथा निरवयवित्व के सामान्य गुण से विभूषित खण्डों से इस कार्य-रूप जगत् को नहीं उत्पादित कर सकता है।

१. (क) और (ख) दोनों आपत्तियों में कोई बल नहीं है; क्योंकि नैयायिकों के अनुसार साधारणतया निरवयव, विस्तारविहीन परमाणुओं से द्व्यणुक, त्र्यणुक आदि का निर्माण नहीं हो सकता है। परन्तु, पर्वत, समुद्र आदि सावयव हैं, परमाणुओं से निर्मित हैं और इसलिये इसे असाधारण शक्ति का परिचायक मानकर ईश्वर के अस्तित्व को स्वीकार किया गया है। चूँकि, गुणरत्न और उदयनाचार्य की पूर्वमान्यतायें विभिन्न हैं, इसलिये इस विभिन्नता के दृष्टिकोण के रहने पर, अर्थात्, दोनों के बीच सामान्य आधार के अभाव में गुणरत्न की १. (क) और (ख) आपत्तियों को प्रसंगहीन मानना चाहिये।

१. (ग) यदि 'कार्य' का अर्थ हो कि वह जो खण्डों अथवा प्रदेशों से बना हो, तो इस अर्थ में नित्य आकाश भी कार्य हो जायगा; क्योंकि आकाश में भी घटाकाश, मठाकाश आदि खण्ड पाये जाते हैं।

१. (घ) इसी प्रकार कहा जा सकता है कि हम जानते हैं कि आकाश के मठाकाश, घटाकाश आदि खण्ड हैं। परन्तु, आकाश नित्य है और खण्डों के योग रहने पर भी आकाश को कार्य नहीं माना जा सकता है।

१. (ग) और (घ) को भी नैयायिक सही आपत्ति नहीं मानेंगे; क्योंकि आकाश के विषय में न्याय और जैनदर्शन में सामान्य पूर्वमान्यतायें नहीं हैं।

२. नैयायिकों के अनुसार जगत् अवयवी है, जो अपने परमाणु-अवयवों से संघटित होता है। यह अवयवित्व जगत् का समवायी गुण है। परन्तु, समवाय-सम्बन्ध को नैयायिक नित्य मानता है। तो क्या जगत्-रूपी कार्य को अवयवित्व के कारण नित्य समझा जाय? परन्तु, ऐसा मान लेने पर जगत् को नित्य कार्य माना जायगा और 'नित्य कार्य' आत्मविरोधी प्रत्यय है। फिर, यदि जगत् को नित्य मान लिया जाय, तो ईश्वर इसका किस प्रकार कारण माना जा सकता है?

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

४. क्या कार्य के लक्षण को उसकी परिवर्त्तनशीलता मानी जाय ? परिवर्त्तन का अर्थ है कि किसी वस्तु की एक स्थिति दूसरी स्थिति का रूप धारण करे। परन्तु, इस अर्थ में तो ईश्वर में भी परिवर्त्तन होता है; क्योंकि उसकी एक स्थिति वह होती है, जिसमें सृष्टि नहीं होती और उसकी दूसरी स्थिति वह होती है, जिसमें वह जगत् की सृष्टि करता है। इस रूप में ईश्वर में परिवर्त्तन होने से वह भी कार्य हुआ और इस ईश्वर को उत्पन्न करने के लिये ईश्वर (१) की आवश्यकता होगी और ईश्वर (१) को उत्पन्न करने के लिये ईश्वर(२) की आवश्यकता होगी और इस रीति से इस प्रकार की व्याख्या में अनवस्था (Regressus ad Infinitum) का दोष चला आयेगा।

(आ) पर क्या जगत् को 'कार्य' कहा जा सकता है ? कार्य वह है, जो कभी विद्यमान हो और फिर किसी अन्य काल में विद्यमान न रहे। इस अर्थ में सम्पूर्ण जगत् के प्रलय तथा इसकी आरम्भिक रचना को किसी ने नहीं देखा है। तो, गुणरत्न का कहना है कि क्यों नहीं जगत् को अनादि और नित्य समझा जाय। परन्तु, इस आपत्ति के प्रति नैयायिकों का कहना है कि जगत् का प्रलय और सृष्टि जगत् के कार्यत्व में निहित है। फिर 'धृति' को भी ईश्वर-साधक प्रमाण माना गया है। इस रूप में जगत् का प्रारम्भ, धृति और विनाश, तीनों पाये जाते हैं। इसलिये, उदयनाचार्य के लिये जगत् कार्य है। यहाँ उदयनाचार्य के तर्क में दो आधार बातें हैं, अर्थात् (क) यह पूर्वानुभविक (A Priori) युक्ति छिपी है कि सभी सावयव वस्तुयें कार्य हैं और पृथ्वी, समुद्र आदि को सावयव मान लिया गया है (ख) दूसरी बात है कि शास्त्रों में लिखा है कि जगत् की सृष्टि और इसका विनाश होता है। इसलिये किसी भी रूप में नैयायिकों के लिये जगत् का कार्यत्व अनुभव-सिद्ध निष्कर्ष नहीं है। परन्तु, गुणरत्न इस निष्कर्ष को अनुभव-सिद्ध मान रहे हैं। यह पूर्वानुभविक सिद्धान्त है कि मानव, जिनकी सृष्टि देवताओं के बाद हुई है, सृष्टि-प्रक्रिया नहीं देख सकते हैं। फिर, प्रलय के समय भी पूर्ण प्रलय के पूर्व जीवों का अन्त हो जाता है, तो जगत् के विनाश का कौन साक्षी होगा ? इसलिये नैयायिकों का आधार पूर्वानुभविक सिद्धान्त है, जिसकी आलोचना आनुभविक तर्कों के आधार पर नहीं की जा सकती है। अतः, गुणरत्न की आपत्ति निराधार है। परन्तु, गुणरत्न की दूसरी आपत्ति उतनी निराधार नहीं है। नैयायिक यदि अनुभव के आधार पर जगत् को इसलिये कार्य मानते हैं कि

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

जगत् में घटनाओं का प्रारम्भ और अन्त होता रहता है, जैसे, वृष्टि और सुखाड़, पेड़-पौधों की वृद्धि और उनका विनाश आदि। इस प्रसंग में गुणरत्न का कहना है कि यदि जगत् के अन्तर्गत परिवर्त्तन को जगत् के कार्यत्व का साधक माना जाय, तो परमाणु और ईश्वर को भी इस तर्क के आधार पर कार्य स्वीकारना पड़ेगा। उदाहरणार्थ, परमाणु विना किसी योग और लगाव के होते हैं, परन्तु ईश्वर उन्हें जोड़कर द्व्यणुक, त्र्यणुक आदि की रचना करता है, क्या यह मिश्रितत्व अथवा संयोजनपन परमाणुओं में अन्तर नहीं लाता है? यदि परमाणुओं के रूपान्तरण को परिवर्त्तन माना जाय (जो नैयायिकों के अनुसार अणुओं पर की गयी अद्भुत क्रिया है), तो नित्य परमाणु भी अनित्य कार्य हो जाते हैं।

फिर, इसी आपत्ति के अनुसार ईश्वर भी कार्य हो जाता है। नैयायिकों अनुसार ज्ञान, चिकीर्षा और प्रयत्न ईश्वर में पाया जाता है। नैयायिकों के अनुसार ईश्वरीय ज्ञान, चिकीर्षा एवं प्रयत्न नित्य और शाश्वत हैं। परन्तु, गुणरत्न इस वात को नहीं स्वीकार करते हैं। गुणरत्न के अनुसार ईश्वरीय ज्ञान, चिकीर्षा और प्रयत्न का विषय जगत् है और जगत् स्वयं कभी है और कभी नहीं है (जैसे प्रलयकाल में)। तव ईश्वर के प्रयत्न तथा चिकीर्षा भी अपने विषय-क्षेत्र जगत् के समान परिवर्त्तनशील अथवा विकारयुक्त होगा। चूँकि स्वयं ईश्वर में ही, अर्थात् उसके ज्ञान, चिकीर्षा तथा प्रयत्न में विकार पाया जाता है, इसलिये ईश्वर भी कार्य हो जायगा। ईश्वर के कार्य हो जाने पर ईश्वर को नित्य नहीं माना जायगा और यदि ईश्वर को वास्तव में कार्य माना जाय, तो ईश्वर-कार्य का कारण होगा ईश्वर (१) और ईश्वर (१) का कारण होगा ईश्वर (२) और अन्त में इस व्याख्या में अनवस्था दोष चला आयगा।

हमलोगों ने देखा है कि गुणरत्न के अनुसार विश्व को नित्य और शाश्वत मानना चाहिये; क्योंकि न तो किसी ने विश्व की सृष्टि देखी है और सिद्धान्ततः न कोई इसके प्रलय का साक्षी हो सकता है। इस प्रसंग में दो उल्लेखनीय विचार वर्त्तमानकालीन धर्मदर्शन में पाये जाते हैं। प्रथम, वताया जाता है कि विश्व स्वतः संचालित व्यवस्था है। यह ठीक है कि इस विश्व में जटिल से जटिल सोपानक्रमिक व्यवस्था देखी जाती है, जैसे पशु, मानव तथा सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड की नियमित व्यवस्था। परन्तु, लगभग २०० वर्ष पूर्व ह्यूम ने कहा था कि यदि विश्व-वस्तुयें व्यवस्थित नहीं होतीं, तो वे आज हमारे सामने

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

४. क्या कार्य के लक्षण को उसकी परिवर्त्तनशीलता मानी जाय ? परिवर्त्तन का अर्थ है कि किसी वस्तु की एक स्थिति दूसरी स्थिति का रूप धारण करे। परन्तु, इस अर्थ में तो ईश्वर में भी परिवर्त्तन होता है; क्योंकि उसकी एक स्थिति वह होती है, जिसमें सृष्टि नहीं होती और उसकी दूसरी स्थिति वह होती है, जिसमें वह जगत् की सृष्टि करता है। इस रूप में ईश्वर में परिवर्त्तन होने से वह भी कार्य हुआ और इस ईश्वर को उत्पन्न करने के लिये ईश्वर (१) की आवश्यकता होगी और ईश्वर (१) को उत्पन्न करने के लिये ईश्वर(२) की आवश्यकता होगी और इस रीति से इस प्रकार की व्याख्या में अनवस्था (Regressus ad Infinitum) का दोष चला आयेगा।

(आ) पर क्या जगत् को 'कार्य' कहा जा सकता है ? कार्य वह है, जो कभी विद्यमान हो और फिर किसी अन्य काल में विद्यमान न रहे। इस अर्थ में सम्पूर्ण जगत् के प्रलय तथा इसकी आरम्भिक रचना को किसी ने नहीं देखा है। तो, गुणरत्न का कहना है कि क्यों नहीं जगत् को अनादि और नित्य समझा जाय। परन्तु, इस आपत्ति के प्रति नैयायिकों का कहना है कि जगत् का प्रलय और सृष्टि जगत् के कार्यत्व में निहित है। फिर 'धृति' को भी ईश्वर-साधक प्रमाण माना गया है। इस रूप में जगत् का प्रारम्भ, धृति और विनाश, तीनों पाये जाते हैं। इसलिये, उदयनाचार्य के लिये जगत् कार्य है। यहाँ उदयनाचार्य के तर्क में दो आधार बातें हैं, अर्थात् (क) यह पूर्वानुभविक (A Priori) युक्ति छिपी है कि सभी सावयव वस्तुयें कार्य हैं और पृथ्वी, समुद्र आदि को सावयव मान लिया गया है (ख) दूसरी बात है कि शास्त्रों में लिखा है कि जगत् की सृष्टि और इसका विनाश होता है। इसलिये किसी भी रूप में नैयायिकों के लिये जगत् का कार्यत्व अनुभव-सिद्ध निष्कर्ष नहीं है। परन्तु, गुणरत्न इस निष्कर्ष को अनुभव-सिद्ध मान रहे हैं। यह पूर्वानुभविक सिद्धान्त है कि मानव, जिनकी सृष्टि देवताओं के बाद हुई है, सृष्टि-प्रक्रिया नहीं देख सकते हैं। फिर, प्रलय के समय भी पूर्ण प्रलय के पूर्व जीवों का अन्त हो जाता है, तो जगत् के विनाश का कौन साक्षी होगा ? इसलिये नैयायिकों का आधार पूर्वानुभविक सिद्धान्त है, जिसकी आलोचना आनुभविक तर्कों के आधार पर नहीं की जा सकती है। अतः, गुणरत्न की आपत्ति निराधार है। परन्तु, गुणरत्न की दूसरी आपत्ति उतनी निराधार नहीं है। नैयायिक यदि अनुभव के आधार पर जगत् को इसलिये कार्य मानते हैं कि

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

जगत् में घटनाओं का प्रारम्भ और अन्त होता रहता है, जैसे, वृष्टि और सुखाड़, पेड़-पौधों की वृद्धि और उनका विनाश आदि। इस प्रसंग में गुणरत्न का कहना है कि यदि जगत् के अन्तर्गत परिवर्त्तन को जगत् के कार्यत्व का साधक माना जाय, तो परमाणु और ईश्वर को भी इस तर्क के आधार पर कार्य स्वीकारना पड़ेगा। उदाहरणार्थ, परमाणु विना किसी योग और लगाव के होते हैं, परन्तु ईश्वर उन्हें जोड़कर द्व्यणुक, त्र्यणुक आदि की रचना करता है, क्या यह मिश्रितत्व अथवा संयोजनपन परमाणुओं में अन्तर नहीं लाता है? यदि परमाणुओं के रूपान्तरण को परिवर्त्तन माना जाय (जो नैयायिकों के अनुसार अणुओं पर की गयी अद्भुत क्रिया है), तो नित्य परमाणु भी अनित्य कार्य हो जाते हैं।

फिर, इसी आपत्ति के अनुसार ईश्वर भी कार्य हो जाता है। नैयायिकों अनुसार ज्ञान, चिकीर्षा और प्रयत्न ईश्वर में पाया जाता है। नैयायिकों के अनुसार ईश्वरीय ज्ञान, चिकीर्षा एवं प्रयत्न नित्य और शाश्वत हैं। परन्तु, गुणरत्न इस वात को नहीं स्वीकार करते हैं। गुणरत्न के अनुसार ईश्वरीय ज्ञान, चिकीर्षा और प्रयत्न का विषय जगत् है और जगत् स्वयं कभी है और कभी नहीं है (जैसे प्रलयकाल में)। तव ईश्वर के प्रयत्न तथा चिकीर्षा भी अपने विषय-क्षेत्र जगत् के समान परिवर्त्तनशील अथवा विकारयुक्त होगा। चूँकि स्वयं ईश्वर में ही, अर्थात् उसके ज्ञान, चिकीर्षा तथा प्रयत्न में विकार पाया जाता है, इसलिये ईश्वर भी कार्य हो जायगा। ईश्वर के कार्य हो जाने पर ईश्वर को नित्य नहीं माना जायगा और यदि ईश्वर को वास्तव में कार्य माना जाय, तो ईश्वर-कार्य का कारण होगा ईश्वर (१) और ईश्वर (१) का कारण होगा ईश्वर (२) और अन्त में इस व्याख्या में अनवस्था दोष चला आयगा।

हमलोगों ने देखा है कि गुणरत्न के अनुसार विश्व को नित्य और शाश्वत मानना चाहिये; क्योंकि न तो किसी ने विश्व की सृष्टि देखी है और सिद्धान्ततः न कोई इसके प्रलय का साक्षी हो सकता है। इस प्रसंग में दो उल्लेखनीय विचार वर्त्तमानकालीन धर्मदर्शन में पाये जाते हैं। प्रथम, वताया जाता है कि विश्व स्वतः संचालित व्यवस्था है। यह ठीक है कि इस विश्व में जटिल से जटिल सोपानक्रमिक व्यवस्था देखी जाती है, जैसे पशु, मानव तथा सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड की नियमित व्यवस्था। परन्तु, लगभग २०० वर्ष पूर्व ह्यूम ने कहा था कि यदि विश्व-वस्तुयें व्यवस्थित नहीं होतीं, तो वे आज हमारे सामने

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

संरक्षित कैसे दिखतीं। यदि सूर्यमण्डल के ग्रहों में व्यवस्था नहीं होती, तो वे आपस में टकराकर चूर-चूर हो जाते और आज हम उन्हें नहीं विद्यमान पाते। इसी प्रकार, यदि कुत्ते की दो टाँगें ऊपर और आँखें पीछे होतीं, तो वे किस प्रकार जीवन-संग्राम में संजीवित रहते। इसलिये, ह्यूम के अनुसार जगत् को घट-पटवत् व्यवस्थित कार्य भी मान लिया जाय, तो भी जगत् को किसी संचालक की और बुद्धि की आवश्यकता नहीं है। साथ-ही-साथ ह्यूम ने यह भी बताया है कि यदि जगत् को कार्य भी मान लिया जाय, तो यह मानना कि यह घटवत् है या बबूल के समान निरुद्देश्य है, केवल मनमाने ढंग से ही निर्णीत हो सकता है। जो ईश्वरवादी बताना चाहते हैं कि विश्व घटवत् निमित्तकारण से उत्पन्न है, वे विश्व में घटनाओं के बीच व्यवस्था, क्रम तथा योजनापूर्णता की ओर हमारे ध्यान को आकृष्ट करते हैं। इसके विपरीत वे निरीश्वरवादी या स्वभाववादी, जो विश्व को निरुद्देश्यपूर्ण दिखाना चाहते हैं, विश्व की घटनाओं की अस्तव्यस्तता, गर्त्त तथा अव्यवस्था की ओर हमारे ध्यान को आकृष्ट करते हैं। यही बात जॉन विस्डम ने अपने 'गॉड्स' नामक लेख में बतायी है। अतः, उदयनाचार्य और गुणरत्न दोनों ही अपनी-अपनी अभिवृत्ति के अनुसार विश्व की घटनाओं को अपने पक्ष के अनुरूप प्रस्तुत कर सकते हैं। परन्तु, इस सन्दर्भ में किसी भी प्रकार का निश्चित तथा असन्दिग्ध निष्कर्ष नहीं स्थापित किया जा सकता है।

एक तीसरी बात भी उल्लेखनीय है। पादरी कोपुल्स्टन के साथ रसेल और ऐयर का दो बार मुठभिड़न्त हुआ था। कोपुल्स्टन ईश्वरवादी हैं और रसेल तथा ऐयर दोनों विश्लेषणवादी दार्शनिक हैं।[१] पादरी कोपुल्स्टन का कहना है कि विश्व अपने सम्पूर्णत्व में आत्मव्याख्येय (Self-explanatory) विषय नहीं है और इसलिये यह दार्शनिक व्याख्या का समुचित विषय है। ऐयर और रसेल, कान्त की परम्परा को स्वीकार करते हुए बताते हैं कि अपने सम्पूर्णत्व में विश्व दार्शनिक चिन्तन का विषय नहीं है। रसेल का कहना है

१. B. Russell/F. C. Copleston, *A debate on the existence of God*, in *The existence of God*, Ed. John Hick. A. J. Ayer/F. C. Copleston, *Logical Positivism*, Ed. A. J. Ayer. इनके संक्षिप्त स्पष्टीकरण के लिये देखें. Y. Masih, *Religious Philosophy*, pp. 133—141.

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

कि विशिष्ट घटनाओं की व्याख्या करना तर्कसंगत माना जायगा। परन्तु, घटनाओं की सम्पूर्ण शृंखला स्वयं कोई घटना नहीं है, जिसकी व्याख्या की जाय। इसी प्रकार, राइखेनवाख का कहना है कि राम का पिता हो सकता है। यदु का पिता हो सकता है और इस प्रकार किसी भी व्यक्ति का पिता हो सकता है। परन्तु, मानवता का कोई पिता नहीं हो सकता है। अतः, कार्य रूप में न विश्व को समझा जा सकता है और न इसका कोई निमित्तकारण ही स्थापित किया जा सकता है। विश्व है और इसी रूप में इसे तथ्य रूप में स्वीकार कर लेना चाहिये। इस विश्व को कार्य मानकर इसके कारण को स्थापित करना व्यर्थ का प्रयास है। यह कोई समुचित दार्शनिक समस्या नहीं, वरन् समस्याभास (Pseudo-Problem) है। अब उपर्युक्त समकालीन निरीश्वरवादी युक्तियों को गुणरत्न ने अपनी प्रचलित भाषा में निम्नलिखित रीति से स्पष्ट किया है।

मान लिया जाय कि विश्व कार्य है, परन्तु गुणरत्न के अनुसार इससे यह सिद्ध नहीं होता है कि इस विश्व का कोई बुद्धिमान् सृष्टिकर्त्ता अथवा निमित्त-कारण है। विश्व को कार्य या तो सामान्य रूप में माना जा सकता है, या विशिष्ट रूप में। मान लिया जाय कि यह विश्व सामान्य रूप में कार्य है, तो इससे इतना ही भर निष्कर्ष स्थापित किया जा सकता है कि इस कार्यरूपी विश्व का कोई-न-कोई कारण है। परन्तु, इससे यह कहाँ ध्वनित होता है कि विश्व का बुद्धिमान् सृष्टिकर्त्ता है। यदि कार्य को हम सामान्य रूप में व्यवहृत करते हैं, तो हमें 'कारण' शब्द को भी सामान्य रूप में स्थापित करना चाहिये। दूसरे शब्दों में या तो विश्व को और इसके कारण को, दोनों को ही सामान्य रूप में व्यवहृत करना चाहिये, या दिखाना चाहिये कि यह विश्व एक विशिष्ट रूप में घट-पटवत् कार्य है। यदि कहा जाय कि विश्व में और घट में सादृश्य है, तो केवल सादृश्य के आधार पर सही निष्कर्ष नहीं स्थापित किया जा सकता है। वाष्प और धुएँ में सादृश्य है, पर वाष्प के रहने से आग का सही निगमन स्थापित किया जा सकता है? परन्तु, नैयायिकों का कहना है कि घट-पट आदि कार्य को देखकर सामान्यीकरण किया जा सकता है और बताया जा सकता है कि विश्व घट के समान अभिकल्पात्मक कार्य है, जिसका रचयिता बुद्धिमान् तथा सर्वज्ञ ईश्वर है। यहाँ गुणरत्न का कहना है कि सामान्यीकरण के आधार पर विरुद्ध हेत्वाभास

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

हो जायगा। यदि विश्व को घटवत् कार्य मान लिया जाय, तो ईश्वर भी कुम्हार के समान सीमित जीव समझा जायगा। क्या ईश्वर को दुःख-सुख-भोगी तथा मोक्षार्थी माना जाय? उदयनाचार्य बताना चाहते हैं कि ईश्वर सर्वशक्तिमान्, सर्वज्ञ, बुद्ध, शुद्ध तथा नित्य मुक्त है, परन्तु यदि ईश्वर को कुम्भकार के समान इस विश्व का रचयिता मान लिया जाय, तो ईश्वर मुक्त न होकर बद्ध जीव बन जायगा। साथ ही, दूसरी भी आपत्ति चली आयगी।

जहाँतक घट और पट आदि कार्यों का प्रश्न है, वहाँ केवल शरीरी ही जीव कारण पाये जाते हैं। तो यदि विश्व को घट-पट आदि के समान कार्य मान लिया जाय, तो क्या ईश्वर को भी शरीरी मान लिया जाय? परन्तु, ईश्वर को उदयनाचार्य प्रभृति सभी ईश्वरवादी नैयायिक अशरीरी मानते हैं। अतः, यदि सादृश्य के आधार पर सामान्यीकरण द्वारा मान लिया जाय कि विश्व घटवत् कार्य है, तो ईश्वर सीमित तथा शरीरी जीव हो जाता है, जो नैयायिक के अभिप्राय से एकदम वि द्ध बात है।

फिर, यदि विश्व कार्य हो, तो क्यों हम इस कार्य को घटवत् उद्देश्यपूर्ण रूप में मानें? क्यों नहीं हम विश्व को कटैले तथा बबूल के समान निरुद्देश्य-पूर्ण कार्य मानें? इस सन्दर्भ में हम देखते हैं कि यहाँ पूरा मनमानापन है, जैसा ह्यूम और विस्डम ने अपनी रचनाओं में स्पष्ट कहा है। ठीक इसी प्रकार गुणरत्न का कहना है कि नैयायिक मनमानी रीति से विश्व को घटवत् मानते हैं, न कि कटैले और बबूल के समान यान्त्रिक एवं स्वभाववादी विश्व को निरुद्देश्यपूर्ण मानते हैं। परन्तु, नैयायिकों का कहना है कि विश्व का सामंजस्य कटैल-बबूल से बढ़ता है, न कि घटता है। ईश्वरवादी नैयायिक को निरुद्देश्यपूर्ण दिखनेवाले कटैलों से भी सम्पूर्ण विश्व घटवत् अभिकल्पात्मक ही दिखायी देगा। इस पक्षपोषण का प्रत्युत्तर करते हुए गुणरत्न का कहना है कि यदि निरुद्देश्यपूर्ण घटनाओं से भी ईश्वर की बुद्धिमत्ता सिद्ध की जाय, तो किसी भी विरोधी घटनाओं को, आपत्ति न स्वीकार कर, ईश्वरवादी अपनी पूर्वमान्यताओं के सामने उड़ा दे सकता है। परन्तु, इस प्रकार आपत्तियों की ओर से आँख मूँद लेने पर आपत्तियों का निराकरण नहीं माना जायगा।

गुणरत्न की आपत्ति में बल है। समकालीन दर्शन में उसी को वास्तविक तथा तर्कसंगत व्याख्या माना जाता है, जिसका मिथ्यापन सम्भव हो। वह

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

व्याख्या जो सभी प्रकार की घटनाओं से (संगत-विसंगत) मेल खा जाय, उसे छूछी व्याख्या कहा जाता है। यदि विश्व की सभी प्रकार की घटनाओं से (चाहे वे घटवत् अभिकल्पात्मक हों, या कटैले-तुल्य निरुद्देश्य हों) ईश्वर का कर्त्तृकत्व मेल खा जाय, तो आधुनिक विचारधारा के अनुसार इसे अवास्तविक तथा छूछी व्याख्या कहा जायगा।

फिर, नैयायिक समझते हैं कि जागतिक घटनाओं से ईश्वर अछूता रहता है। परन्तु, ऐसा मानना युक्तिसंगत नहीं कहा जा सकता है। यदि ईश्वरीय ज्ञान, चिकीर्षा और प्रयत्न का सम्बन्ध विश्व से रहता है, तो विश्व-घटनाओं से ईश्वर प्रभावित होगा और यदि विश्व-घटनाओं से ईश्वर अप्रभावित रहता है, तो ईश्वर को इन घटनाओं का रचयिता और पालक (धृतित्व) कैसे कहा जा सकता है? यही कारण है कि शांकर सिद्धान्त में ईश्वर सर्वोच्च, परन्तु केवल व्यावहारिक सत्ता ही माना गया है। बीसवीं शताब्दी के प्रमुख तत्त्वमीमांसक ह्वाइटहेड ने ईश्वर को शाश्वत और प्रकृति-मूलक दोनों माना है। ईश्वर का एक पक्ष शाश्वत रहता है और उसका दूसरा पक्ष विश्व-सन्दर्भ में रहकर सतत परिवर्त्तनशील रहता है। ह्वाइटहेड से प्रभावित हार्टशोर्ण का भी यही मत है। परन्तु, ईश्वर को नित्य और परिवर्त्तनशील, दोनों एक साथ मानना कठिन हो जाता है। परन्तु, एक रूप में ईश्वर को विश्व का नित्य कारण माना जा सकता है, यदि ईश्वर को विश्व का समवायी कारण या आधार माना जाय। इस प्रकार का सिद्धान्त स्पिनोजा के दर्शन में पाया जाता है और फिर इस प्रकार की ध्वनि शांकर मत में पायी जाती है। शंकर के अनुसार निर्गुण सम्पूर्ण विश्व का अधिष्ठान अथवा आश्रय-मात्र है। परन्तु, नैयायिकों के अनुसार, ईश्वर विश्व का निमित्त-कारण है और निमित्तकारण को नित्य तथा अपरिमित समझना बहुत कठिन बात है।

ईश्वरवादी, चाहे प्राच्य या पाश्चात्य, समझते हैं कि अशरीरी और शरीरी कर्त्ता में प्राकारिक अन्तर नहीं है। फिर, अपरिमित तथा सीमित सत्ताओं में भी प्राकारिक अन्तर है। यही कारण है कि अनुभववादियों द्वारा प्रस्तुत आपत्तियों का ईश्वरवादी सन्तोषजनक प्रत्युत्तर नहीं कर सकते हैं। क्या अशरीरी ईश्वर का ज्ञान, प्रयत्न आदि को हम उसी प्रकार समझ सकते हैं, जिस प्रकार शरीरी जीवों के ज्ञान, प्रयत्न आदि क्रियाओं अथवा

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

लक्षणों को हम जान सकते हैं ? ईश्वरवाद के विषय में इस समसामयिक समस्या को गुणरत्न अपनी भाषा में इस प्रकार व्यक्त करते हैं।

यदि ईश्वर इस विश्व का रचयिता हो और विश्व को घट-पटवत् कार्य माना जाय, तो ईश्वर को शरीरी कहा जायगा; क्योंकि प्रत्यक्ष द्वारा यही जाना जाता है कि घट का निमित्तकारण कुम्भकार है और पट का निमित्त-कारण शरीरधारी तन्तुवाय होता है। परन्तु, नैयायिक यहाँ पर विरुद्ध हेत्वाभास प्रस्तुत करते हैं।

ईश्वर इस विश्व का अशरीरी कर्त्तृक है; जैसे घट-पट आदि का शरीरी कर्त्तृक होता है।

परन्तु, नैयायिकों के अनुसार ईश्वर इस विश्व का अशरीरी रचयिता है। परन्तु, यदि ईश्वर अशरीरी हो, तो उसमें चिकीर्षा, ज्ञान और प्रयत्न कहाँ से उत्पन्न होगा। गुणरत्न के अनुसार, नैयायिक भी इस बात को स्वीकार करते हैं कि मुक्त जीव अशरीरी हो जाता है और अशरीरी रहने पर मुक्त आत्माओं में किसी भी प्रकार की न कामना होती और न किसी प्रकार का कर्म। परन्तु, नैयायिक कहते हैं कि अशरीरी ईश्वर अपने ज्ञान, चिकीर्षा तथा प्रयत्न के ही द्वारा विश्व-रचना कर सकता है। नैयायिकों को कहना है कि यदि कुम्हार को ज्ञान न हो, तो वह मिट्टी से पात्र नहीं बना सकता है। फिर, यदि कुम्हार को ज्ञान भी हो और मिट्टी भी हो, पात्र बनाने की इच्छा न हो, तो भी पात्र नहीं बना सकता है। इसी प्रकार ज्ञान, चिकीर्षा तथा सभी उपादान के रहते हुए भी यदि प्रयत्न न हो, तो भी कुम्हार पात्र नहीं तैयार कर सकेगा। इसलिये, नैयायिकों के अनुसार, शरीर से नहीं, वरन् ज्ञान, चिकीर्षा तथा प्रयत्न के द्वारा कोई कार्य सम्पादित होता है। परन्तु, नैयायिकों का प्रत्युत्तर बहुत दुर्बल है। गुणरत्न पूछते हैं :

क्या किसी भी कुम्हार में बिना उसके शरीरधारी हुए ज्ञान, चिकीर्षा तथा प्रयत्न पाया जाता है ?

जब किसी भी जीवों के ज्ञान आदि को बिना शरीरधारी हुए सम्भव नहीं पाया गया है, तब कैसे समझा जाय कि अशरीरी ईश्वर में भी ज्ञान, चिकीर्षा तथा प्रयत्न पाया जायगा ? वास्तव में, देखा जाय तो शरीरधारी होना और बद्ध होना, शरीरविमुक्त होना और निष्क्रिय होना साथ-साथ पाया

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

जाता है। इसलिये, यदि ईश्वर में ज्ञान, चिकीर्षा तथा प्रयत्न पाया जाता है तो ईश्वर शरीरी होगा और साथ-ही-साथ वह बद्ध भी हो जायगा।

अन्त में, योग-साधना के आधार पर योगी अपने को अदृश्य बना सकता है। क्या ईश्वर भी अपने को योगसिद्धि के आधार पर अदृश्य बनाये रखता है? परन्तु, गुणरत्न के अनुसार इस सम्भावना को तर्कसंगत नहीं माना जा सकता है। इसका कारण है कि अदृश्य योगी भी शरीरधारी होता है और केवल बीच-बीच में कुछ ही समय के लिये अपने को अदृश्य बना लेता है। परन्तु, यदि ईश्वर अपने को कभी भी सशरीर होकर दृश्यमान नहीं करता है, तो गुणरत्न के अनुसार, ईश्वर यक्ष और पिशाच के समान केवल कपोलकल्पित सत्ता है।

अन्त में, किस रूप में ईश्वर को इस विश्व का सृष्टिकर्त्ता माना जाय?

गुणरत्न के अनुसार, निम्नलिखित रूप में ईश्वर को जगत् का कारण माना जा सकता है:

(क) अपने अस्तित्व के हेतु ईश्वर सृष्टिकर्त्ता हो सकता है।

(ख) अपने ज्ञान के हेतु ईश्वर सृष्टिकर्त्ता हो सकता है।

(ग) अपने ज्ञान, चिकीर्षा तथा प्रयत्न के आधार पर ईश्वर जगत् का रचयिता हो सकता है।

(घ) व्यापार के कारण ईश्वर सृष्टिकर्त्ता हो सकता है।

(ङ) ईश्वरत्व के कारण सृष्टिकर्तृकत्व समझा जा सकता है।

गुणरत्न का कहना है कि इनमें से किसी भी पक्ष का समर्थन नहीं किया जा सकता है। गुणरत्न के अनुसार, अस्तित्व सभी वस्तुओं में पाया जाता है। अस्तित्व कुम्हार में उतना ही पाया जाता है जितना ईश्वर में। तो क्यों नहीं कुम्भकार तथा तन्तुवाय को भी जगत् का सृष्टिकर्त्ता स्वीकार कर लिया जाय? अपनी प्रचलित दार्शनिक भाषा में गुणरत्न बताना चाहते हैं कि अस्तित्व कोई गुण अथवा विधेय नहीं है, जिसके कारण ईश्वर को सृष्टिकर्त्ता समझा जाय। दूसरी बात है कि अस्तित्ववाद में सत् को शक्ति रूप में समझा जाता है। इस रूप में सभी वस्तुओं में सत् नहीं पाया जाता है। वास्तव में, भारतीय धर्मदर्शन में ईश्वर में विश्वकर्तृकत्व को

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

स्वीकार किया जाता है और अन्य किसी भी सत्ता को सृष्टिकर्त्ता नहीं स्वीकार किया गया है। अतः, नैयायिकों के अनुसार, ईश्वर में कोरा अस्तित्व नहीं, वरन् कार्यशक्ति के रूप में सत् है। गुणरत्न ने ईश्वर के अस्तित्व के इस पक्ष पर विचार नहीं प्रकट किया है। वास्तव में, गुणरत्न ने ईश्वर के सृष्टि-कर्त्तृकत्व पर पूरा ध्यान नहीं दिया है और इसलिये सृष्टिकर्तृकत्व-सम्बन्धी गुणरत्न की आलोचना छिछली है। यही कारण है कि गुणरत्न ने ईश्वर की सर्वज्ञता तथा चिकीर्षा आदि का भी सही अर्थ नहीं लगाया है। गुणरत्न का कहना है कि ईश्वर अपने ज्ञान के कारण भी इस विश्व का सृष्टिकर्त्ता नहीं कहा जा सकता है; क्योंकि योगी, साधक, तपस्वी को भी ज्ञान होता है, परन्तु उन्हें अपने ज्ञान के आधार पर सृष्टिकर्त्ता नहीं माना जाता है। फिर, गुणरत्न के अनुसार यही आपत्ति ईश्वर के ज्ञान, चिकीर्षा तथा प्रयत्न के विषय में भी की जा सकती है। अन्त में, गुणरत्न ईश्वर के ईश्वरत्व के विषय में भी प्रश्न करते हैं। क्या ईश्वरत्व से सर्वज्ञता का तात्पर्य अभिलक्षित होता है? यदि सर्वज्ञता के कारण विश्वसृष्टिकर्त्तृकत्व प्राप्त हो सकता है, तो गुणरत्न के अनुसार बुद्ध भगवान् भी तो सर्वज्ञ थे और फिर जैनों के अनुसार गुणस्थान के १३वें चरण में योगी सर्वज्ञ हो जाता है, तो क्यों नहीं बुद्ध भगवान् तथा महावीर को सृष्टिकर्त्ता माना जाय?

अन्त में पूछा जा सकता है, ईश्वर का, इस सृष्टि का रचना करने का क्या अभिप्राय हो सकता है? इस रचना का निम्नलिखित कारण बताया जा सकता है।

१. व्यक्तिगत मनचाहापन।
२. जीवों का प्रारब्ध।
३. करुणा।
४. लीला।
५. पुरस्कार तथा दण्ड-विधान हेतु।
६. निरुद्देश्यपूर्ण स्वभाववाद-वश।

गुणरत्न इनमें से किसी भी निर्धारक को सृष्टि का सही उद्देश्य नहीं मानते हैं। यदि व्यक्तिगत मनचाहापन को सृष्टि का कारण माना जाय, तो इस विश्व को निरुद्देश्यपूर्ण माना जायगा। इस प्रकार की बात बाइबिल

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

की अय्यूब-कथा में उठती है। भक्त अय्यूब को एक स्थिति में कहना पड़ा कि ईश्वर अपनी शक्ति से उन्मत्त होकर सृष्टि रचता और विनाश करता है। भला! इस शक्तिशाली ईश्वर से कौन इस विश्व-सृष्टि का उद्देश्य पूछ सकता है? परन्तु मनमतंग, मनचाही करनेवाले ईश्वर को पूर्णतया उपास्य नहीं माना जायगा। फिर, यदि जीवों का कर्मसंस्कार अथवा प्रारब्ध से विवश होकर ईश्वर इस विश्व की रचना करता है, तो गुणरत्न के अनुसार, जीवों का कर्मसंस्कार, न कि ईश्वर इस विश्व का कर्त्तृकत्व कहा जायगा। पुनः, करुणा का क्या स्थान हो सकता है? सृष्टि के पूर्व जीव नहीं होते और न वे बद्ध होते। इसलिये, जीवों के प्रति करुणा का प्रश्न सृष्टिकाल में नहीं उठता है। फिर, यदि जीवों को इस जगत् में अपने कर्म के अनुसार दुःख मिलता है, तो ईश्वर इस कर्मफल को कैसे रोक सकता है? यदि ईश्वर अपनी क्षमाशक्ति के आधार पर जीवों को उबार सकता है, तो या तो कर्मवाद सही नहीं होता या ईश्वर सभी अशुभों को दूर नहीं कर सकने पर सर्वशक्तिमान् नहीं कहा जा सकता है। दूसरे शब्दों में, यदि ईश्वर जीवों का दुःख दूर कर सकता है और नहीं दूर करता है, तो ईश्वर दयालु (करुणामय) नहीं, और यदि वह जीवों का दुःख (उनके कर्म के कारण) नहीं दूर कर सकता है, तो ईश्वर सर्वशक्तिमान् नहीं कहा जा सकता है। दोनों ही अवस्था में ईश्वर उपास्य नहीं ठहरता है। अपितु, ईश्वर-लीला का क्या अर्थ हो सकता है? यदि यह रहस्यमय, मानव-बुद्धि से परे ईश्वर की कार्यशक्ति है, तो इसे दर्शन-गोष्ठी का विषय नहीं कहा जा सकता है। परन्तु, यदि 'लीला' का अर्थ क्रीडा हो, तो इसका अभिप्राय है कि ईश्वर ऊबकर मन-बहलाव के लिये इस सृष्टि की रचना करता है। ऐसी अवस्था में नरत्वारोपण का दोष चला आता है और फिर ऐसा मालूम होता है, कि ईश्वर अपने में पूर्ण नहीं है। परन्तु, यदि 'लीला' का अभिप्राय हो कि ईश्वर अपनी कार्यशक्ति से अभिभूत होकर, क्रियाशील होकर सृष्टि करता है, तो इससे ध्वनित होता है, ईश्वरीय सृष्टि अपने-आप बिना किसी उद्देश्य अथवा प्रयोजन के संचालित होती है। इस दशा में सृष्टि को घटवत् सप्रयोजन नहीं कहा जा सकता है। परन्तु, नैयायिक सृष्टि को सप्रयोजन मानते हैं। इसलिये, लीला का अर्थ कार्यशक्ति से अभिभूत क्रिया भी नहीं कहा जा सकता है। जो बातें लीला के सम्बन्ध में कही गयी हैं, उनमें से कुछ पुरस्कार तथा नीति-विधान के विषय में भी लागू होती हैं। क्या ईश्वर को मानव-राजा समझ लिया जाय, जो

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

आज्ञा-पालन करने पर प्रजा को पुरस्कार और आज्ञाओं का उल्लंघन करने पर उन्हें दण्ड देता है ? ऐसा समझने पर इसमें मनुष्यत्वारोपण का दोष चला आता है और फिर ईश्वर अपने में पूर्ण न होकर अपनी इच्छा के पालन होने के लिये अपने जीवों पर निर्भर हो जाता है।

इन सब आपत्तियों के रहने पर गुणरत्न के अनुसार स्वभाववाद को अपनाना कहीं अधिक युक्तिपूर्ण मालूम देता है। अतः, गुणरत्न के अनुसार, उदयनाचार्य तथा अन्य नैयायिकों के द्वारा प्रस्तुत ईश्वर-समर्थक युक्तियाँ निराधार हैं।

हमने पहले ही कहा है, कि आदिकालीन भारतीय धर्मदर्शन आध्यात्मिक अवश्य है, परन्तु कम-से-कम श्रमण-परम्परा में धर्मदर्शन विशेषतया निरीश्वरवादी कहा जा सकता है। हम आगे देखेंगे कि ईश्वरवाद की तुलना में निरीश्वरवादी आध्यात्मिकवाद अधिक युक्तिसंगत मालूम देता है। परन्तु, जबतक समकालीन धर्मदर्शन की निरीश्वरवादी धाराओं का अध्ययन न किया जाय, तबतक इस सन्दर्भ में किसी निष्कर्ष को स्थापित नहीं समझा जायगा। अतः, अब समकालीन निरीश्वरवाद का अध्ययन किया जायगा।

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

अध्याय ८

समकालीन निरीश्वरवाद

विषय-प्रवेश : इसमें सन्देह नहीं कि पाश्चात्य विज्ञान और तकनीकी का उदय क्रमशः ईसाई धर्म से हुआ है। फिर, पाश्चात्य प्रजातन्त्र तथा ऐहिकतावाद (Secularism) भी तकनीकी तथा औद्योगिक प्रसार से उत्पन्न हुआ है। परन्तु, जिस ईसाई जननी ने ऐहिकतावाद सन्तान का जन्म दिया है, उसी ऐहिकतावाद के कारण ईसाई धर्म का भी उन्मूलन हो रहा है। विज्ञान की विधि तथा उसके विभिन्न निष्कर्षों से अनुभववाद की नींव पक्की हो गयी है, और इस अनुभववाद के आधार पर ईश्वर-प्रत्यय को आत्मविरोधी, अनर्गल तथा निरर्थक समझा जा रहा है। फिर, ऐहिकतावाद अथवा लौकिकवाद के प्रसार के बाद पाश्चात्य जीवन में कोई ऐसा स्थान नहीं बच गया है, जहाँ ईश्वर की आवश्यकता मालूम देती है। अतः, ईश्वर-प्रत्यय पाश्चात्य मानव के लिये सांस्कृतिक एवं मनोवैज्ञानिक स्तर पर लुप्त होता जा रहा है। इसलिये, हमें स्पष्ट करना चाहिये कि किस प्रकार से ईश्वर-विचार दार्शनिक एवं मनोवैज्ञानिक स्तर पर समकालीन युगदर्शन नहीं माना जा सकता है। इस निष्कर्ष को स्पष्ट करने के लिये ईसाई धर्म की पूर्वमान्यताओं का दार्शनिक अध्ययन विचार-इतिहास की पृष्ठभूमि में करना चाहिये।

ईसाई धर्म की तीन मुख्य पूर्वमान्यतायें स्वीकार की जाती हैं, अर्थात्,

१. ईश्वर में विश्वास;
२. बाइबिल को ईश्वर-वचन स्वीकारना और
३. ईसाई कलीसिया अथवा संघ को बाइबिल को बाँचने का एकाधिकारी समझना।

कालगति से ये तीनों बातें पाश्चात्य मानव के विचार-क्षितिज से ओझल होती जा रही हैं। ईसाई धर्म में विश्वास की क्षीणता स्वयं ईसाई धर्म की पूर्वमान्यताओं में निहित प्रत्ययों के अन्तर्द्वन्द्व से उत्पन्न हुई है। सर्वप्रथम, अन्य धर्मों के समान ईश्वर, बाइबिल तथा संघ आस्था के विषय थे। तर्कबुद्धि का स्थान गौण था, जैसा रामानुज और शंकर का कहना है कि तर्कबुद्धि ईश्वर

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

का अस्तित्व स्थिर नहीं कर सकती है। केवल शास्त्रों में, विशेषकर श्रुति में, आस्था रखने पर ईश्वर-ज्ञान अथवा बोध उत्पन्न होता है। तर्कबुद्धि का इतना ही भर काम है कि वह श्रुतिवचन को स्पष्ट करे। यही बात ईसाई धर्म के आदिकाल में बतायी जाती है। अन्सेलम ने (सन् १०३३—११०६ ई०) अपने सत्तामूलक प्रमाण को ईश्वर के समक्ष एक प्रार्थना के रूप में प्रस्तुत किया था :

हे प्रभु ! तू आस्था (फेथ) को तर्कबुद्धि के द्वारा स्पष्ट करता है। मुझे भी समझ दे........कि मैं तेरे अस्तित्व को स्पष्ट करूँ........क्योंकि जैसा हमारा विश्वास है, तू वैसा ही है, जैसा हमारा विश्वास है।

सत्तामूलक प्रमाण के लिख लेने पर अन्सेलम ने लिखा :

हे सत्प्रभु ! तुझे कोटिशः धन्यवाद है; क्योंकि अब मैं तेरी ज्योति के द्वारा उस बात को समझता हूँ, जिसे पहले मैंने तेरे अनुग्रह से प्राप्त किया था।

परन्तु, धर्मदार्शनिकों के आपसी भेद, तर्क-वितर्क आदि के कारण अन्त में तर्कबुद्धि को विशेष स्थान देना पड़ा। तर्कबुद्धि के स्थापित हो जाने पर सत्यता-प्राप्ति को प्राथमिकता प्रदान की गयी। सत्यता-प्राप्ति के आदर्श को स्वीकार करने पर वैज्ञानिक खोज को प्राश्रय मिला। वैज्ञानिक खोज इन्द्रियानुभव पर आश्रित होती है। इसी वैज्ञानिक मत पर विज्ञान-निष्कर्ष और विधि को प्रधानता प्राप्त हुई। वैज्ञानिक विधि के कारण बाइबिल को श्रुति-वचन मानना कठिन हो गया और विज्ञान से निस्सृत अनुभववाद ने ईश्वर-प्रत्यय को आत्मविरोधी सिद्ध कर दिया है। विज्ञान-प्रसार के साथ तकनीकी और औद्योगीकरण का प्रचार हुआ और इनके प्रचार से ऐहिकतावादी युगदर्शन स्थापित हो गया है। इसी ऐहिकतावाद के द्वारा ईश्वर का सांस्कृतिक एवं मनोवैज्ञानिक निधन माना जाता है। अतः, पाश्चात्य निरीश्वरवाद ईसाई ध` में निहित अन्तर्द्वन्द्व का तार्किक परिणाम बताया जा सकता है और इस विकास-क्रम को संक्षेप में निम्नलिखित रीति से स्पष्ट किया जा सकता है।

तर्कबुद्धि के आधिपत्य का विकास :

शब्द अनुभूति द्वारा गढ़ा जाता है और अनुभूति परिवर्त्तनशील हुआ करती है। इसलिये, शब्द का अर्थ भी बदलता रहता है। सर्वप्रथम, शब्दों के

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

अर्थ का विश्लेषण होता है और अर्थ का विश्लेषण के आधार पर परिशोधन (Precise) किया जाता है। परन्तु, शब्द को परिभाषा में बाँधकर इसे अचल और स्थायी नहीं बनाया जा सकता है। परिभाषा के आधार पर बनावटी भाषा में केवल पारिभाषिक शब्दों की ही रचना होती है और गणित तथा विभिन्न विज्ञानों में परिभाषिक शब्दों का आदर्श रूप पाया जाता है। परन्तु, चलती भाषा में शब्दों को परिशुद्ध रखना कठिन है। कम-से-कम यह बात 'ईश्वर'-प्रत्यय में पायी जाती है।

प्रारम्भ में, ईसाई धर्म में, 'ईश्वर' को दो विभिन्न अर्थों में प्रयुक्त किया गया है। एक ओर ईश्वर को व्यक्तित्वपूर्ण सत्ता स्वीकार किया गया है और इस रूप में ईश्वर को सृष्टिकर्त्ता, जगन्नियन्ता तथा बाद में प्रेमी, क्षमाशील तथा दुःखभोगी पिता भी माना गया है। इसमें सन्देह नहीं कि ईसाई विश्वासियों के लिये ईश्वर को व्यक्तित्वपूर्ण मानना अनिवार्य मालूम देता है। परन्तु, ईश्वर को निर्वैयक्तिक रूप में शब्द-ब्रह्म (Logos) भी माना गया है और कहा गया है :

आदि में शब्द था, और शब्द ईश्वर के साथ था, और ईश्वर शब्द था। यही आदि में परमेश्वर के साथ था। सब कुछ उसी के द्वारा उत्पन्न हुआ........।

(यूहन्ना, १ : १-१)

परन्तु, 'शब्द' का जो भी अर्थ लगाया जाय, इसमें दार्शनिक तथा अमूर्त्त भावना विशेष रूप से तथा उपास्य ईश्वर की मूर्त्त भावना क्षीण रूप से अभिव्यक्त होती है। बाद में चलकर लोगोस (शब्द-ब्रह्म) का प्रत्यय रहस्य-वादी रूप से उपयुक्त होने लगा। इससे त्रित्व परमेश्वर (Trinity) के प्रत्यय की स्थापना हुई। पिता-पुत्र-पवित्रात्मा को त्रित्व परमेश्वर कहा जाता और एक ही ईश्वर को इसके तीन रूप में व्यवहृत किया जाता है, अर्थात् ईश्वर-पिता, ईश्वर-पुत्र और ईश्वर-पवित्रात्मा। परन्तु, कितनी ही अधिक माथा-पच्ची क्यों न की जाय, त्रित्व परमेश्वर को ईश्वरत्व (Godhood) कहा जायगा, न कि उपास्य एवं व्यक्तित्वपूर्ण ईश्वर। अतः, त्रित्व परमेश्वर का प्रत्यय निर्वैयक्तिक कहा जायगा।

अब ईश्वर को व्यक्तित्वपूर्ण माना जाय या निर्वैयक्तिक त्रित्व परमेश्वर, दोनों ही स्थितियों में ईश्वर को प्रकाशनापरक (Revelatory) समझा गया है। ईश्वर ने अपने को अपनी सृष्टि में प्रकट किया है।

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

इसलिये कि परमेश्वर के विषय का ज्ञान उनके मनों में प्रकट है; क्योंकि परमेश्वर ने उनपर प्रकट किया है; क्योंकि उसके अनदेखे गुण, अर्थात् उसका सनातन सामर्थ्य और परमेश्वरत्व जगत् की सृष्टि के समय से उसके कामों के द्वारा देखने में आते हैं........। (रोमियों की पत्री, १ : १९-२०)

(अर्थात्, ईश्वर ने अपने को मानव-मन में तथा प्रकृति में प्रकट किया है।)

परन्तु, ईश्वर ने अपने ईशदूतों (नबियों), बाइबिल और अन्त में अपने पुत्र ईसा के द्वारा प्रकट किया है। प्रसंग में ईसा की प्रसिद्ध उक्ति है :

मैं और पिता एक हैं। (यूहन्ना, १०:३०)

और जो मुझे देखता है, वह मेरे भेजनेवाले (ईश्वर) को देखता है। मैं जगत् में ज्योति होकर आया हूँ, ताकि जो कोई मुझपर विश्वास करे, वह अन्धकार में न रहे। (यूहन्ना, १२ : ४५-४६)

तो क्या वास्तव में ईश्वर और ईसा एक हैं ?

परन्तु, ईसा मनुष्य था, वह देहधारी था, उसे भूख-प्यास लगती थी इत्यादि। तो क्या ईश्वर भी मानव की भाँति सीमित व्यक्ति है ? परन्तु, उपास्य ईश्वर वह है, जिसे भक्त अपने सम्पूर्ण धन, मन और वचन से पूजता है, अपना सर्वस्व ईश्वर को अर्पित कर देता है। क्या भक्त सम्पूर्ण आत्म-सम्र्पण ऐसे ईश्वर को कर देगा, जो आज है और सम्भव है कि कल न हो, आज दयालु हो और सम्भव है कि बाद में न हो ? ऐसी सत्ता, जो आज हो और जिसके नहीं होने की कल्पना की जा सकती है, आपातिक (Contingent) कही जाती है। ईसाई धर्मविचारकों के अनुसार, उपास्य ईश्वर को आपातिक नहीं स्वीकार किया जा सकता है। उन्होंने उपास्य ईश्वर को 'अनिवार्य सत्ता (Necessary being) कहा है, अर्थात् जिसके नहीं होने की कल्पना भी नहीं की जा सकती है। यदि ईश्वर अनिवार्य सत्ता हो, तो ईसा को ईश्वर नहीं कहा जा सकता है। तो क्या ईसा मानव था ? यदि ईसा मानव था, तो ईसाई को मूर्त्तिपूजक (Idolator) कहा जायगा; क्योंकि वह एक सीमित सत्ता को अपरिमित मानकर उसकी पूजा करता है। परन्तु, कोई ईसाई अपने को इतना अज्ञानी कहना स्वीकार नहीं करेगा। उसे कहना पड़ेगा कि वह मूर्त्तिपूजक नहीं है। तब क्या ईसा ईश्वर है ? यह भी सम्भव नहीं है; क्योंकि ईसा एक ऐतिहासिक यहूदी व्यक्ति था और ऐसे

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

सीमित व्यक्ति को पूर्ण ईश्वर नहीं कहा जा सकता है। ईसाइयों के लिये ईसा की सत्ता एक बड़ी चुनौती थी और ईसा के तत्त्व के प्रसंग में ईसाइयों ने बाल की खाल निकाली है। उन्होंने निम्नलिखित विचार प्रकट किया है:

१. ईसा ईश्वर है।

(क) इसलिये नहीं कहा जा सकता है कि ईसा मानव था और ईश्वर की आज्ञा का पालन करके उसने ईश्वरत्व को प्राप्त किया था।

(ख) परन्तु, यदि ईसा पूर्ण ईश्वर है, तो उसकी मृत्यु और उसका दुःख-भोग बनावटी था; क्योंकि ईश्वर न मर सकता है, और पूर्ण तथा अशरीरी होने के कारण वह दुःख-भोग भी नहीं कर सकता है। तो क्या ईसा की मृत्यु और उसका पुनरुत्थान छद्म व्यापार है? यदि ईसा की मृत्यु और उसका अनुजीवन छद्म हो, तो मानव को इससे कैसे पाठ मिल सकता है कि वह ईसा की मृत्यु और क्रूश-वहन से अमरता को प्राप्त कर सकता है? मानव ईश्वर न होने से उसके पुनरुत्थान की आशा टूट जायगी। मानव ईसा की मृत्यु में सहभागी नहीं हो पायगा। इसलिये, ईसाई को ईसा को मानना पड़ता है, ताकि वह ईसा को अपने जीवन का अनुकरणीय आदर्श समझे। परन्तु, हम देख चुके हैं कि ईसा मानव भी नहीं हो सकता है, ताकि मूर्त्तिपूजा का दोष न उत्पन्न हो। अतः, ईसाई विचारकों को मानना पड़ा कि,

(ग) ईसा पूर्ण ईश्वर भी है और पूर्ण मानव भी है। परन्तु, ये दोनों आत्मविरोधी बातें हैं। जबतक ईसाई ईसा के तत्त्व को आस्था का विषय कहकर रहस्यपूर्ण मानते रहे, तबतक इस आत्मविरोधिता का पूर्ण स्पष्टीकरण नहीं हो पाया। परन्तु, तर्कबुद्धि इस रहस्य को नहीं स्वीकार कर सकती और वर्त्तमान युग में अनेक अनुभववादी तथा ऐहिकतावादी ईसाई ईसा को ईश्वर मानने के लिये तैयार नहीं हैं। इनके अनुसार,

२. ईसा सम्पूर्णतया शुद्ध मानव था। परन्तु, यदि कोई अपने को स्थिर करना चाहता है, अथवा जीवन को अर्थपूर्ण बनाना चाहता है, तो उसे ईसा को अपने जीवन का अनुकरणीय आदर्श स्वीकारना चाहिये। ऐसी दशा में ईसा ईश्वर नहीं रहता और न ईश्वर को

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

स्वीकारने की ही गुंजाइश रह जाती है; क्योंकि ईसाइयों के लिये ईश्वर और ईसा एक हैं। जिसने ईसा को देखा-सुना और जाना है, उसने ईश्वर को भी जाना है। ईश्वर ईसा से भिन्न तथा इतर सत्ता नहीं है। अतः, सम्प्रति ईसाई विचारक ईसा के ईश्वरत्व को त्यागकर, ईश्वर की सत्ता को नहीं स्वीकारते हैं। यह है ईसाई निरीश्वरवाद।

अन्त में देखा आय, तो ईसाई निरीश्वरवाद तर्कबुद्धि में आस्था रखने से उत्पन्न हुआ है। परन्तु, ईश्वर को आस्था का विषय न मानकर मानव-तर्कबुद्धि का विषय मानना क्रमशः उत्पन्न हुआ है। कहा जाता है कि सन्त अगस्टाइन ईसाई धर्म के प्रथम प्रमुख दार्शनिक हुए हैं। अगस्टाइन प्लेटो और प्लोटिनस से बहुत प्रभावित हुए थे। अगस्टाइन (सन् ३५४—४३० ई०) के अनुसार, ईश्वर परम सत्ता है, और ईश्वर की तुलना में मानव उसकी चरणरज अथवा तुच्छ जीव है। मानव के जीवन का एकमात्र यही निःश्रेयस् है कि वह ईश्वर की आज्ञाओं का पालन करे। ईश्वर ने मानव को नाशवान् शरीर दिया है, परन्तु उसकी आत्मा को उसने अमर बनाया है।[1] पहला सृष्ट मानव आदम था। परन्तु, उसने ईश्वर की आज्ञा का उल्लंघन किया और इससे पापवृत्ति उसमें और उसके कारण अन्य सभी मानवों में आ गयी है। बिना ईश्वर के अनुग्रह (Grace) के कोई भी व्यक्ति ईश्वर के प्रति आज्ञाकारी नहीं हो सकता है।

ईश्वर असीम, पूर्ण तथा परम सत्ता है। ईश्वर का अस्तित्व सिद्ध हो सकता है, परन्तु ईश्वर के अपार तथा असंख्य गुणों को मानव नहीं जान सकते हैं। मानव की बुद्धि क्षीण, उसकी नैतिक शक्ति दुर्बल तथा पाशविक शक्ति प्रबल होती है। केवल ईश्वर के अनुग्रह से मानव का उद्धार हो सकता है। प्रकाशना तथा ईसाई-संघ के प्रति अटूट आस्था से ही मानव का उद्धार हो सकता है। अगस्टाइन के अनुसार तर्कबुद्धि का स्थान मानव-उद्धार के लिये प्रमुख नहीं है। आस्था का प्रमुख स्थान अगस्टाइन के बाद ६०० वर्ष तक बना रहा। परन्तु, उसके बाद धीरे-धीरे आस्था का स्थान क्षीण पड़ता गया और तर्कबुद्धि की प्रमुखता बढ़ती गयी।

---

१. ईसाई धर्मदर्शन में मानव और स्वर्गदूतों को 'सृष्ट अमर' जीव माना गया है। परन्तु, अनेक विचारक किसी भी 'सृष्ट' वस्तु को अमर नहीं मानते हैं।

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

अन्सेलम का पहले ही उल्लेख कर दिया गया है। अन्सेलम (सन् १०३३—११०९ ई०) ने आस्था (फेथ) को विशेष स्थान प्रदान किया है, परन्तु अपने सत्तामूलक प्रमाण के प्रसंग में उन्होंने ईश्वरीय ज्योति या समझ अथवा तर्क-बुद्धि को भी स्थान दिया है। आस्था-प्राप्ति के लिये ईश्वर के अनुग्रह को बहुमूल्य माना गया है। परन्तु, अन्सेलम के अनुसार, आस्था के साथ तर्कबुद्धि अथवा समझ के दान को अधिक बहुमूल्य समझना चाहिये। लेकिन, अन्सेलम के अनुसार, तर्कबुद्धि को आस्था से परे तथा स्वतन्त्र नहीं मानना चाहिये। किन्तु, तर्कबुद्धि को स्थान देने के बाद तर्कबुद्धि गौण न रहकर क्रमशः कालगति के साथ प्रमुख बनती गयी। पिटर अबेलार्ड[1] (सन् १०७९—११४२ ई०) अन्सेलम को अपेक्षा एक कदम आगे गढ़ गये। अबेलार्ड ने बताया है कि आस्था आवश्यक है। परन्तु, आस्था का अपना विषय होना चाहिये। अभी तक लोग संघ के नेताओं पर श्रुति के स्पष्टीकरण के लिये भरोसा करते थे। परन्तु, ईसाई-मण्डली के पूर्वजों ने श्रुति का भिन्न-भिन्न अर्थ बताया है। ईसाई विश्वास के सन्दर्भ में अबेलार्ड ने १५८ आत्मविरोधी कथनों का उल्लेख किया है। उन्होंने बताया कि श्रुति अथवा साक्षात् प्रकाशना के दिन बहुत पहले ही बीत चुके हैं। इसलिये, मतमतान्तरों के बीच निर्णय करके विश्वास-वचन को स्थिर करने का भार केवल तर्कबुद्धि को ही दिया जा सकता है। इसलिये अबेलार्ड ने आस्था को स्थान अवश्य दिया है, परन्तु, इसके साथ उन्होंने प्राकृतिक बुद्धि को भी स्वतन्त्र स्थान प्रदान किया है। इस प्राकृतिक बुद्धि तथा आस्था के भेद को ह्यूगो[2] ने (सन् १०९६—११४१ ई०) और भी अधिक उग्र कर दिया है।

ह्यूगो ने धार्मिक अभिकथनों को चार वर्गों में बाँटा है :

१. तर्कबुद्धि द्वारा स्थापित अभिकथन। ये अभिकथन इतने स्पष्ट तथा परिस्पष्ट होते हैं कि इन्हें सुबोध करने के लिये आस्था की कोई आवश्यकता नहीं होती है।
२. वे धार्मिक अभिकथन, जिनकी कथावस्तु आस्था तथा प्रकाशना (Revelation) से प्राप्त होती है, परन्तु, जिन्हें युक्तिसंगत अथवा बुद्धिसंगत कहा जा सकता है।

---

१. Peter Abailard.
२. Hugo of St. Victor.

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

३. वे धार्मिक अभिकथन, जिन्हें अतिबौद्धिक कहा जा सकता है। इस प्रकार के अभिकथनों के अन्तर्गत विमोचन, अवतार, पवित्र प्रभुभोज, पाप-प्रायश्चित्त आदि कथायें सम्मिलित समझी जाती हैं। इन अभिकथनों को तर्कबुद्धि से स्पष्ट नहीं किया जा सकता है। परन्तु, इन्हें तर्कविरुद्ध नहीं माना जा सकता है। इन्हें आस्था का विषय माना जा सकता है।

४. अन्त में, ऐसे भी धार्मिक अभिकथन पाये जाते हैं, जिन्हें बुद्धि-विरुद्ध कहा जा सकता है।

ह्यूगो ने बुद्धि-विरुद्ध अभिकथनों को अस्वीकार कर दिया। अब वह धर्म-दर्शन, जिसमें तार्किक और तर्कसंगत (अथवा बुद्धिसंगत) अभिकथन पाये जाते हैं, उसे प्राकृतिक ईश्वर-दर्शन (Natural Theology) कहा गया और जिसमें, अतिबौद्धिक (Above reason) अभिकथन पाये जाते हैं, उसे श्रुत ईश्वर-दर्शन (Revealed Theology) कहा गया है। यह ठीक है, कि प्राकृतिक ईश्वर-दर्शन में भी आस्था का स्थान स्वीकारा गया है, तो भी इसके अन्तर्गत ऐसे भी अभिकथन सम्मिलित किये गये, जिन्हें स्वतन्त्र विश्लेषण और तर्क द्वारा स्थापित किया जा सकता है। इस प्रकार से ईश्वर-दर्शन में भी तर्कबुद्धि को स्वतन्त्र स्थान प्राप्त हो गया।

बाद में चलकर ईसाइयों को मुसलमानों से होड़ लेनी पड़ी। उन्हें ईसाई धर्म की उत्कृष्टता सिद्ध करने के लिये ईसाई विचारकों को अधिक-से-अधिक युक्तियों और बौद्धिक सामग्रियों पर भरोसा रखना आवश्यक हो गया; क्योंकि गैर-मसीही न तो बाइबिल को ही प्रामाणिक मानते हैं और न ईसाई सन्तों की दुहाई को प्रमाण समझते हैं। फिर, बार-बार युक्तियों के आधार पर ईसाई विश्वास को स्थिर रखने के लिये ईसाई ईश्वर-दार्शनिकों को प्राकृतिक तथ्यों की दुहाई देनी पड़ी। असाक्षात् रीति से सभी प्रकार के धर्मदार्शनिकों की पूर्वमान्यता थी कि तथ्य ही एक प्रकार के प्रबल प्रमाण हैं, जिन्हें सभी व्यक्तियों को स्वीकार करना चाहिये, परन्तु तथ्यों की स्थापना के लिये ऐसी विधि को स्थापित करना आवश्यक मालूम दिया, जिसे सभी निर्विवाद तथा निर्भ्रान्त मान लें। इस विधि की खोज से वैज्ञानिक पद्धति की स्थापना हुई। आपसी मतमतान्तरों के बीच

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

निर्णय करने तथा ईसाई विश्वास को समर्थित करने के फलस्वरूप निम्नलिखित निष्कर्ष स्थापित हुए :

(क) तर्कबुद्धि की मान्यता अन्तिम कसौटी है, जो प्रकाशना तथा श्रुति के विश्वास-वचन को स्थिर कर सकती है।

(ख) बुद्धि के द्वारा प्राकृतिक तथ्यों का स्थिरीकरण सभी धर्मों के लिये सर्वमान्य तथा व्यापक प्रमाण है।

(ग) सभी वाद-विवादों के आधार में सर्वस्वीकृत पूर्वमान्यता यह स्थिर हुई कि सत्यता की खोज ही सभी मानवों की पवित्र निधि है, और ईसाई धर्मदार्शनिकों ने श्रुति के इस वचन को हृदयंगम किया कि,

सत्यता की खोज करो। जब तुम सत्यता को जानोगे, तब सत्यता तुम्हें सच्ची स्वतन्त्रता देगी।

(ख) के आधार पर वैज्ञानिक अनुसन्धान को बढ़ावा मिला और (ग) ने वैज्ञानिक खोज को धर्म के समान पवित्र मानकर वैज्ञानिकों को उत्प्रेरणा दी। पन्द्रहवीं शताब्दी से पाश्चात्य देशों में विज्ञान का प्रचार और प्रसार विघ्न-बाधाओं को कुचलता हुआ बढ़ता चला जा रहा है और समकालीन युगदर्शन में विज्ञान को जितनी ख्याति और मान्यता मिली है, उतनी मान्यता कभी किसी भी धर्म को नहीं मिली थी। परन्तु, धर्म और विज्ञान की जो भी साँठ-गाँठ प्रारम्भ में हुई हो, इस युग में दोनों का समन्वय सिद्धान्ततः सम्भव नहीं है। यह कथा अब ऐतिहासिक और दार्शनिक स्तर पर स्पष्ट की जायगी।

विज्ञान का प्रचार एवं प्रसार :

कोपर्निकस (सन् १४७२–१५४३ ई०), केल्पर (सन् १५७१–१६३० ई०), गैलेलियो (सन् १५६४–१६४१ ई०) तथा तोरीसेली (Toricelli), गिल्बर्ट (Gilbert), हार्वे (Harvey), बॉयल (Boyle) प्रभृति वैज्ञानिकों ने विज्ञान की प्रगति जारी कर दी। इन वैज्ञानिकों ने वैज्ञानिक सत्यता को मानव की सबसे पवित्र निधि स्वीकार की थी, तो भी ये विचारक नहीं चाहते थे कि विज्ञान के साथ धर्म का कहीं भी विरोध हो। परन्तु, ऐसा सम्भव नहीं हुआ। पग-पग पर वैज्ञानिक खोज को धार्मिक मान्यताओं के साथ होड़ लेनी पड़ी थी और अनेक संघर्षों के फलस्वरूप ही विज्ञान का अखण्ड साम्राज्य स्थापित हो

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

पाया है। कम-से-कम न्यूटन और डार्विन, दोनों धार्मिक व्यक्ति थे और इन दोनों ने धर्म को विज्ञान के आधार पर पुष्ट करना चाहा था। परन्तु, दोनों की खोजें ऐसी थीं कि उनके अनुसार ईसाई धर्म की यूरोपीय मान्यताओं को भारी ठेस पहुँची। अतः, धर्म और विज्ञान का विरोध प्रारम्भ से ही स्पष्ट होने लगा, यद्यपि धर्मदार्शनिकों ने विज्ञान में भी अपनी धार्मिक मान्यताओं को पचाने का पूरा प्रयास किया था और यह प्रयास लगभग १९वीं शताब्दी के अन्त तक जारी रहा।

अब विज्ञान में अन्तर्निहित दो बातें हैं, अर्थात् (क) वैज्ञानिक निष्कर्ष और, (ख) वैज्ञानिक विधि। इन दोनों को धर्मदार्शनिकों ने पचाने की कोशिश की, परन्तु वे अपने प्रयास में असफल रहे। मूल पूर्वमान्यताओं के साथ ईसाई धर्म-दर्शन की ये भी धारणायें थी :

(अ) पृथ्वी चिपटी है और यह सम्पूर्ण विश्व का केन्द्र है। इसलिये, सूर्य तथा अन्य ग्रह भी इसी पृथ्वी की परिक्रमा करते हैं।

(आ) अन्य पशुओं में विवेक नहीं है। केवल मानव में ही आत्मचेतना तथा विवेक है। ईश्वर ने मानव को अपने हाथों से बनाकर उसने उसमें अमर आत्मा को सृष्ट किया है और सम्पूर्ण विश्व तथा पशुओं को उसके सुख के लिये साधन-रूप सृष्ट किया है।

(इ) मानव, सृष्टि का सर्वोत्कृष्ट जीव ही नहीं है, अपितु ईश्वर ने मानव को बुद्धि का दान देकर उसे स्वर्गदूतों के बराबर श्रेष्ठ जीव बनाया है।

वैज्ञानिक निष्कर्षों के स्थापित हो जाने पर ये तीनों प्रमुख धारणायें उन्मूलित हो गयीं। कोपर्निकस तथा गैलेलियो ने और बाद में चलकर न्यूटन के यान्त्रिकवाद (Mechanism) ने पृथ्वी-सम्बन्धी धारणा को विनष्ट कर दिया। बाद में चलकर डार्विन ने सिद्ध कर दिया कि मानव की गणना स्वर्गदूतों में नहीं, परन्तु उसे आकाश के पक्षी तथा भूतल के पशुओं के समान समझना चाहिये। इसी डार्विनीय परम्परा का अनुसरण कर फ्रॉयड ने स्पष्ट कर दिया कि मानव के जीवन का संचालन उसकी बुद्धि से नहीं, प्रत्युत पाशविक वृत्तियों एवं अचेतन प्रेरकों से सम्पादित होता है। मानव का अब गर्व चूर हो गया है और उसकी दृष्टि आकाश की ओर न होकर भूमिष्ठ हो गयी है। स्वर्ग की स्वर्ण-अट्टालिका से गिरकर मानव को अब नरक भी नसीब

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

नहीं है। आकाश के नीचे धूल-धूसर पगों के साथ निरुद्देश्यपूर्ण जीवन मानव का एकमात्र सम्वल शेष रहा है। इस कहानी को निम्नलिखित रीति से स्पष्ट किया जा सकता है।

यह ठीक है कि वैज्ञानिक निष्कर्षों की अपेक्षा वैज्ञानिक विधि का परिणाम धर्म के लिये अधिक निर्णायक अथवा घातक सिद्ध हुआ है। परन्तु, वैज्ञानिक निष्कर्ष भी पाश्चात्य विचारकों को धर्म से विमुख करने में बहुत दूर तक समर्थ सिद्ध हुए हैं। जब, कोपर्निकस ने देखा कि पृथ्वी-केन्द्रित सूर्यमण्डल के आधार पर ज्योतिष की गति अवरुद्ध हो गयी है और नयी घटनाओं की व्याख्या करने के लिये अस्थायी प्राक्कल्पना आदि अधिचक्रों की रचना करनी पड़ती है, तो कोपर्निकस ने एक क्रान्तिकारी कदम उठाया। उसने एक नयी विचारधारा स्थापित की। कोपर्निकस के अनुसार पृथ्वी को नहीं, वरन् इसके विपरीत सूर्य को ही सम्पूर्ण सूर्यमण्डल का केन्द्र मानना चाहिये। सूर्य-केन्द्रित ज्योतिष में उन सभी घटनाओं की व्याख्या, जो टॉलमी (Ptolemy) के पृथ्वी-केन्द्रित सिद्धान्त पर होती थी, सूर्य-केन्द्रित सिद्धान्त के आधार पर सरलता, सुगमता तथा अनायास होने लगी। फिर, ज्योतिष में प्रगति भी आने लगी। बाद में चलकर गैलेलियो ने पीसा में झुके टावर से पत्थर गिराकर आनुभविक रूप से स्पष्ट कर दिया कि वास्तव में पृथ्वी चलती है। ये निष्कर्ष वैज्ञानिक थे और तथ्यों से प्रेरित होकर और वैज्ञानिक परम्परा को ध्यान में रखकर ही इन निष्कर्षों को स्थापित किया गया था। परन्तु, इनका प्रभाव धार्मिक मान्यताओं के लिये घातक सिद्ध हुआ। धार्मिक लोगों के हृदय में इस वैज्ञानिक ज्ञान से बड़ी ठेस पहुँची। अभी तक वे सोचते थे कि पृथ्वी मानव का विशेष आवास-स्थान थी और चूँकि, मानव ईश्वर की योजना में सृष्टि का प्रमुख जीव था, इसलिये उसका निवासगृह पृथ्वी को भी सृष्टि का केन्द्र बनाया गया था। परन्तु, पृथ्वी का अवमूल्यन हो जाने पर मानव-मान में बट्टा आने लगा। अन्त में, केवल यही नहीं सिद्ध हुआ कि पृथ्वी केन्द्र नहीं, वरन् यह सूर्य की परिक्रमा करती है, प्रत्युत यह भी कि पृथ्वी एक बहुत छोटा ग्रह है और फिर, सूर्य-ताप के अन्त होने पर इसका विनाश भी अवश्यम्भावी है। पृथ्वी-सम्बन्धी इस ज्ञान से धार्मिक व्यक्तियों को ऐसा आभासित होने लगा, मानों उनके पैरों के नीचे से ठोस धरती पिछल गयी।

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

टॉलमी, कोपर्निकस तथा गैलेलियो ने केवल सूर्य, पृथ्वी आदि के केन्द्र की ही बात नहीं की थी, परन्तु उन लोगों ने ग्रहों का परिक्रमा-पथ, ऋतु-परिवर्त्तन, ज्वार-भाटा आदि का भी लेखा रखा था। परन्तु, न्यूटन की महान् देन इसमें थी कि उन्होंने इन सब विभिन्न घटनाओं को केवल एक गुरुत्वाकर्षण के व्यापक नियम के आधार पर सूत्रबद्ध कर दिया। साथ ही, सिद्ध कर दिया कि एक ही नियम विश्व के सम्पूर्ण क्षेत्र में फैला हुआ है। वे ही नियम जिनके द्वारा घड़ी तथा किसी भी यन्त्र का संचालन होता है, उन्हीं नियमों के द्वारा सम्पूर्ण सूर्यमण्डल के ग्रह, उपग्रह तथा अन्य पदार्थ भी संचालित होते हैं। अतः, सम्पूर्ण विश्व को एक महान् यन्त्र कल्पित करना चाहिये। यह ठीक है कि स्वयं न्यूटन परम भक्त थे और उनके अनुसार बिना ईश्वर की मदद के सूर्यमण्डल स्थिर (धृति) नहीं रह सकता है। परन्तु, जिस पथभ्रंश के आधार पर न्यूटन ने ईश्वर के बीच-बीच में देख-रेख अथवा हस्तक्षेप की प्राक्कल्पना आवश्यक समझी थी, उसे आगे चलकर लैपलेस ने सिद्ध कर दिया कि ग्रह-गति में यह पथभ्रंशता अपने-आप ठीक हो जाती है और इसके लिये किसी भी चेतना अथवा ईश्वर की देख-रेख की आवश्यकता नहीं होती है। अतः, न्यूटनीय यान्त्रिकवाद ने सम्पूर्ण विश्व को यन्त्र के रूप में चित्रित कर दिया, जिसमें चेतना, नीति तथा उद्देश्यमूलकता का कोई स्थान न रहा। यह ठीक है कि न्यूटन तथा धर्मविचारकों ने तटस्थ ईश्वरवाद (Deism) की कल्पना की और विश्व-यन्त्र में यान्त्रिक ईश्वर के परम उद्देश्य को बाह्यारोपित किया है। तटस्थ ईश्वरवादियों के अनुसार, ईश्वर एक चतुर यान्त्रिक है, जो इस विश्व को पूर्ण यन्त्र बनाकर इस विश्व से अलग हो गया और चूँकि, यन्त्र असाधारण कला का रूप है, इसलिये यह विश्व अपने-आप चलता रहेगा। परन्तु, ईश्वर ने इस विश्व-यन्त्र को मानव-कल्याण-हेतु रचा है। पर, क्या भक्तों को इस तटस्थ ईश्वर-वाद से सन्तोष प्राप्त हुआ ?

सर्वप्रथम यदि विश्व-यन्त्र अपने में पूर्ण हो और यदि ईश्वर इस विश्व को रचकर दूर हो गया हो, तो फिर इस विश्व की कार्यवाही में ईश्वर के हस्तक्षेप की कोई आवश्यकता नहीं रह जाती है। परन्तु, यदि ईश्वर इस विश्व की कार्यवाही में कोई हस्तक्षेप नहीं करता है, तो आश्चर्यकर्मों (Miracles) का स्थान नहीं रह जाता है। तब एक ओर बाइबिल में

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

उल्लिखित आश्चर्यकर्मों की कथा मिथ्या सिद्ध हो जाती है और फिर, ईश्वर के विषय में यह नहीं कहा जा सकता है कि वह अपने भक्तों के लिये प्राकृतिक घटनाओं में हस्तक्षेप करके आश्चयकर्म करता है। अतः, आश्चर्य-कर्म न करनेवाले ईश्वर की पूजा, उसके प्रति प्रार्थना आदि का क्या अर्थ हो सकता है? फिर, मान भी लिया जाय कि ईश्वर ने इस विश्व की रचना की है, परन्तु, इस समय तो वह इस विश्व और मानव से अतीत और दूरस्थ है। दूरस्थ ईश्वर को उपास्य मानना व्यर्थ है; क्योंकि तटस्थ ईश्वर न तो मानव के आर्त्तक्रन्दन को सुनता है और न भक्तों की प्रार्थना के प्रति अनुक्रियाशील होता है। अतः, तटस्थ ईश्वरवाद से धार्मिक हृदय को कोई सन्तोष नहीं मिला। यदि मानव को कोई सन्तोष हुआ, तो इसी बची हुई आशा से कि कम-से-कम ईश्वर ने इस विश्व-यन्त्र की ऐसी रचना की है कि इस पृथ्वी पर मानव का कल्याण बना रहे और उसकी उद्देश्यपूर्ति होती रहे। फिर, अभी तक मानव में यह आशा बनी हुई थी कि कम-से-कम मानव को ईश्वर ने अपने ही हाथों से रचकर उसमें उसने अमर आत्मा को फूंक दिया है। डार्विन के जैविक विकासवाद (Organic evolution) ने मानव की इस रही-सही आशा पर भी पानी फेर दिया।

चार्ल्स डार्विन (सन् १८०९—१८८२ ई०) का क्षेत्र जीव-जगत् से था और जीव तथा यन्त्र में अनेक अन्तर पाये जाते हैं।

(क) जीव में स्वप्रजनन-प्रक्रिया (Self-reproduction) पायी जाती है। एक जीव कालक्रम में अनेक हो जाते हैं। परन्तु, कोई भी यन्त्र अपने-आप एक से अनेक नहीं होता है। शायद जीव और यन्त्र के बीच यह सबसे प्रमुख भेद है।

(ख) जीव में क्षति हो जाने पर कालक्रम में वह चोट अपने-आप अच्छी हो जाती है। उदाहरणार्थ, शरीर का घाव भर जाता, टूटी हड्डी जुट जाती, छिपकिली की दुम कम कट जाने पर फिर हो जाती है इत्यादि। परन्तु, कोई भी यन्त्र खराब हो जाने पर अपने-आप ठीक नहीं हो जाता है।

(ग) यन्त्र की तुलना में जीव स्वतः प्रवर्त्तित होता है। चिड़िया, पशु आदि स्वतः प्रवर्त्तित होकर अपने लिये आहार की खोज करते, अपना बचाव करते आदि, परन्तु यन्त्र बाह्यप्रवर्त्तित होता है।

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

(घ) जैविक प्रक्रियाओं में समग्रत्व पाया जाता है। पाचन, भोजन, मैथुन इत्यादि प्रक्रियाओं में जीव का समस्त शरीर सक्रिय रहता है। परन्तु, यान्त्रिक प्रक्रिया को अंशतः कहा जाता है, अर्थात् अंशों के संचालन से यन्त्र का संचालन होता है। यन्त्र के किसी भाग को जब हम चाहें हटाकर दूसरा भाग जोड़ सकते हैं इत्यादि।

यद्यपि, यन्त्र और जीव में अनेक मौलिक भेद पाये जाते हैं, तथापि जैविक विकासवाद ने यान्त्रिकवाद के प्रसार में अनुपम योगदान दिया है। डार्विन ने जीवों के प्रजनन और परिवर्त्तन के दो मुख्य लक्षणों को ध्यान में रखकर सम्पूर्ण जैविक विकास को यान्त्रिक रीति से स्पष्ट किया है।

१. डार्विन के अनुसार जीव की जनन-कोशिका में अन्धाधुन्ध तथा विविध परिवर्त्तन अपने-आप होते रहते हैं।

२. वे परिवर्त्तन, जिनके द्वारा भोजन तथा जोड़ (Mate) मिलने में आसानी होती है, वे जीवों में संरक्षित होकर संक्रान्त हो जाते हैं। उदाहरणार्थ, मान लीजिये, कि घास-प्रधान क्षेत्र में नीची गरदन के साथ बकरियाँ उत्पन्न होने लगे तो घास चरने में नीची गर्दनवाली बकरियों को सुविधा होगी। परन्तु, यदि गरदन लम्बी और ऊँची होने लगे, तो इस प्रकार की बकरियों को घास मिलने में कठिनाई हो जायगी; क्योंकि उनके लिये गर्दन नीची कर घास खाने में कठिनाई होगी। परन्तु, कटैले, बबूल-प्रधान देशों में ऊँची गरदन-वाली बकरियों को आसानी होगी। अतः, परिस्थिति के ही द्वारा परिवर्त्तनों का चयन होता है। जो परिवर्त्तन वातावरण के अनुकूल होते, वे अभियोजन-कार्य में सहायक सिद्ध होते हैं और जो अनुकूल नहीं होते, वे अभियोजन-कार्य में असहायक होते हैं। केवल सहायक परिवर्त्तन ही अन्त में संरक्षित होते हैं।

यहाँ दो उल्लेखनीय निष्कर्ष स्थापित होते हैं :

(क) परिवर्त्तन अन्धाधुन्ध तथा आकस्मिक रीति से उत्पन्न होते हैं।

(ख) अब कौन परिवर्त्तन सहायक होंगे और कौन परिवर्त्तन सहायक नहीं होंगे, यह परिनिवेश अथवा परिस्थिति के द्वारा यान्त्रिक रीति से ही निर्धारित किये जाते हैं।

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

अतः, जीवों का विकास अन्धाधुन्ध तथा यान्त्रिक प्रक्रियाओं के फलस्वरूप ही सम्भव होता है। कहीं भी चेतना तथा अभिकल्प (Design) का हाथ नहीं देखने में आता है। डार्विन ने यह भी स्पष्ट कर दिया कि मानव-जाति का विकास क्रमशः वनमानुष-सरीखे पशुओं से हुआ है। इसलिये, मानव की सृष्टि अन्य पशुजातियों के समान हुई है और यहाँ भी ईश्वर का हाथ नहीं देखने में आता है। इसलिये, डार्विनवाद ने मानव को पृथ्वी का पशु सिद्ध कर दिया और इससे मानव को अपने अभियान में भारी धक्का पहुँचा। इतना ही नहीं, डार्विन के जैविक विकास ने स्पष्ट कर दिया कि इस विकास-प्रक्रिया में कहीं भी नैतिकता का हाथ नहीं है। जीवन-संग्राम में वे ही जातियाँ भोजन और जोड़ प्राप्त करने में समर्थ होती हैं, जिनकी बाहुओं में वल होता है। समस्त जीवन-संग्राम का महान् सिद्धान्त है : 'जीवो जीवस्य भोजनम्, मत्स्यन्याय अथवा जिसकी लाठी, उसकी भैंस।' विजयी जातियों के नख-दन्त रक्त-रंजित पाये गये हैं। ऐसी सृष्टि के रचयिता को कैसे प्रेमी, न्यायी, दयालु ईश्वर माना जाय ?

फिर, प्रायः ईश्वरवादी जीवों के अंगों की ओर दिखाकर वताते थे कि इनकी अनुपम बनावट से सिद्ध होता है कि इनका सिरजनहार कोई अतुल वुद्धि-सम्पन्न सत्ता है। परन्तु, डार्विन के पहले ह्यूम ने और भारत में भी गुणरत्न आदि विचारकों ने वताया था कि विश्व की सम्पूर्ण व्यवस्था अपने-आप हुई है। इस स्वतः परिवर्त्तन में यदि पशुओं में सहनियोजन, संगठन आदि न होता, तो वे जीवन-संग्राम में भोजन और मैथुनिक जोड़ा न प्राप्त कर सकने के कारण अपने-आप में विलीन हो जाते। इस प्रकार के असंख्य प्राकृतिक प्रयोग के उदाहरण पत्थरों, वालुकाओं आदि स्थलों में अब भी संरक्षित देखे जाते हैं। वड़े-वड़े विशाल जीव सुव्यवस्थित तथा परिस्थिति के प्रति अभियोजित न रहने के कारण लुप्त हो गये हैं। अतः, डार्विन के जैविक विकास ने स्पष्ट कर दिया है कि जो भी जीव संरक्षित अथवा जीवन-संग्राम में अनुजीवित रह पाये हैं, वे अवश्य ही सुव्यवस्थित तथा स्वसंघटित होंगे, नहीं तो वह जीवन-संग्राम में विजयी ही नहीं रहते। इसलिये, पशु-जगत् अथवा समस्त प्राणी-जगत् में जो भी अद्भुत व्यवस्था देखी जाती है, वह अपने-आप होती है और इसकी व्याख्या के लिये ईश्वर की आवश्यकता नहीं देखी जाती है। इसलिये, डार्विन ने विश्व-सृष्टि के निमित्त किसी भी सृष्टिकर्त्ता, पालक आदि की कल्पना करना अनावश्यक सिद्ध कर दिया है।

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

पाश्चात्य ईसाई जगत् के लिये डार्विन की वैज्ञानिक देन बड़ी कटु अनुभूति सिद्ध हुई है। परन्तु, स्वयं डार्विन पक्के ईसाई थे। उन्होंने स्वयं एक सुझाव रखा है, जिसके आधार पर जैविक विकास को ईसाई धर्मदर्शन में पचाया जा सकता है। उन्होंने बताया है कि लोग भ्रमपूर्ण रीति से समझते थे कि ईश्वर ने कुछ ही दिनों में इस ब्रह्माण्ड की रचना की है। बात ऐसी है कि ईश्वर ने कुछ ही जीवाणुओं में प्राणशक्ति फूंक दी और उन्हें यह महामन्त्र दिया कि तुम अनेक दिशाओं में विभिन्न, विविध तथा असंख्य रूप धारण करते जाओ। देखो, इसी क्षुद्र प्राणियों के उत्स से नाना प्रकार के अद्भुत जीवों का विकास होगा और अन्त में इस प्राणी-जगत् के रंगमंच पर बुद्धि और विवेकयुक्त मानव का पदार्पण होगा। यह मानव सभी प्राणी-जगत् का सिरमौर होगा और अपनी नैतिकता, बुद्धिबल तथा कल्पना-शक्ति के कारण वह देवत्व को प्राप्त करेगा।

अन्तर्वर्त्ती उद्देश्यपरक विकासवाद (Immanent Teleology) की कथा बड़ी मनोरंजक है। परन्तु, यह कथा प्रत्ययवाद में पूर्णतया झंकृत हुई है। परन्तु, प्रत्ययवाद में वैयक्तिक ईश्वरवाद को संगत रीति से स्थान नहीं दिया जा सकता है। अतः, डार्विन का सुझाव वर्त्तमान युग के लिये स्वीकार्य नहीं कहा जायगा। अपितु, विकास-क्रम और प्रक्रिया इतनी यान्त्रिक, नृशंस तथा अनैतिक है कि इसे ईश्वरीय समझना मानव-मस्तिष्क के लिये कठिन हो जाता है। जैविक विकास का गहरा घाव बड़ा कष्टदायक सिद्ध हुआ। परन्तु, जीवन की आशा मरुस्थल को भी हरा-भरा कर देती है। मानव का मान अब भी इस बात में अवशेष रहा कि उसमें बुद्धि, विवेक तथा नीतिज्ञान है। अब भी वह इसे अपने जीवन का सम्बल बना सकता है। परन्तु, विज्ञान बड़ा निष्ठुर है। मानव अपने हाथों से इस पृथ्वी पर थोड़े दिन के लिये घर बनाकर विश्राम करना चाहता है। इस सूनी वसुन्धरा पर अब उसकी बुद्धि और विवेक ही अवशेष बचे हैं। उसकी सम्पूर्ण पैतृक सम्पत्ति लुट चुकी है। परन्तु, विज्ञान का कठोर आघात अब भी जारी है। फ्रॉयड ने (सन् १८५६—१९३९ ई०) सिद्ध कर दिया कि मानव झूठा दम्भ भरता है। मानव की समस्त प्रक्रियाओं के आधार में अचेतन प्रेरणायें रहती हैं। मानव समझता है कि वह अपने कर्त्तव्य का पालन निश्चित सिद्धान्त से अनुप्रेरित होकर करता है। वास्तव में, वह मानव-जाति तथा अपने शैशवकाल की दमित

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

को छोड़ना चाहिये, अतः ऐहिकतावाद में धर्म के प्रति तटस्थ न रहकर इसकी पारलौकिकता का विरोध किया जाता है। इसलिये ऐहिकतावाद को धर्म-निरपेक्ष नहीं माना जा सकता है। फिर, ईश्वरवादी भी पारलौकिक ईश्वर के प्रति इतना अन्तर्लिप्त तथा अन्तर्वेष्टित रहता है कि उसे ऐहिकतावाद से होड़ लेनी ही पड़ती है। अतः, यदि ऐहिकतावादी चाहे, तो भी वह धर्मनिरपेक्ष नहीं रह सकता है। तीसरी बात है कि ऐहिकतावाद के अनुसार मानव अपनी ही शक्ति तथा तर्कबुद्धि के द्वारा विज्ञान और तकनीकी का आश्रय लेकर, विश्व की समस्त सामग्रियों का यथोचित उपयोग कर, ऐहिक सुखप्राप्ति का प्रतिपादन करता है। इस रूप में भी ऐहिकतावाद और ईश्वरवाद में अन्तर चला आता है।

(क) ईश्वरवाद पारलौकिक उद्देश्य को, सम्भवतः स्वर्गप्राप्ति को, अन्तिम निःश्रेयस् स्वीकार करता है। इसके विपरीत ऐहिकतावाद लौकिक सुखप्राप्ति को मानव का चरम लक्ष्य स्वीकार करता है।

(ख) ईश्वरवादी कर्त्तव्य-निर्धारण तथा स्वर्गप्राप्ति के लिये शास्त्र (श्रुति) तथा ईश्वरीय प्रकाशना (Revelation) को मानदण्ड मानता है। इसके विपरीत ऐहिकतावादी मानव शक्ति और बुद्धि को ही सभी समस्याओं के समाधान के लिये एकमात्र पथदर्शक स्वीकारता है।

(ग) ईश्वरवादी, सन्तों के जीवन को अपने मार्गदर्शन का आधार मानता है। इसकी तुलना में ऐहिकतावादी विज्ञान और तकनीकी को मानव-जीवन के सभी क्षेत्रों में प्रसारित करता है।

इस रूप में ऐहिकतावाद को धर्मनिरपेक्ष कहना भ्रमात्मक है। तब ऐहिकतावाद तथा अन्य धर्मविरोधी मानवतावादी तन्त्रों (उदाहरणार्थ, साम्यवाद, समाजवाद, मानवतावाद) में अन्तर यही है कि ऐहिकतावाद का उदय पाश्चात्य संस्कृति में ईसाई धर्म से ही हुआ है, या यों कहिये कि साम्यवाद ईसाई धर्म से असाक्षात् रीति से निकला है और इसकी अपेक्षा ऐहिकतावाद ईसाई धर्म से साक्षात् रूप से व्युत्पन्न हुआ है। ऐहिकतावाद का विकासक्रम तीन चरणों में पाया जाता है, अर्थात्—

(अ) ईसाई ऐहिकतावाद वह है, जिसके अनुसार ईश्वर की आज्ञा है कि भूखों को रोटी दी जाय, रोगियों की सेवा की जाय, विधवाओं की

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

सुधि ली जाय तथा सभी मानवों को उसी रीति से प्यार किया जाय, जिस प्रकार ईसा ने अपने शिष्यों को प्यार किया। ईसाई ऐहिकतावाद से अनुप्रेरित होकर पादरियों ने शिक्षा, चिकित्सा तथा समाज-सुधार में स्तुत्य योगदान किया है। तो भी ईसाई ऐहिकतावाद को सच्चा ऐहिकतावाद नहीं कहा जा सकता है।

(आ) भक्त को ईश्वर के प्रति ऐसी अटूट अथवा कूटस्थ निष्ठा हो जाती है कि वह सांसारिक सुख को निस्सार मानने लगता है, और वह माता-पिता तथा सभी सांसारिक सुखों को छोड़कर स्वर्ग-प्राप्ति की धुन में लगा रहता है। अतः, ईश्वरवादी अपनी अन्तरात्मा में ऐहिक नहीं हो सकता है।

(इ) ईश्वरवाद का उदय प्राग्वैज्ञानिक कहा जायगा और इसमें भोजन, काम-जीवन, नैतिकता आदि में अनेक 'टाबू' (निषध, `यम-नियम) निहित पाये जाते हैं, जिनसे ऐहिकतावाद से संघर्ष होना अनिवार्य हो जाता है। उदाहरणार्थ, परिवार-नियोजन के प्रति कई ईश्वरवादी धर्मों ने आपत्तियाँ उठायी हैं।

उपर्युक्त कारणों के अतिरिक्त अन्य बातों के कारण भी ऐहिकतावादियों ने ईसाई अनुप्रेरणा को विफल मानकर शुद्ध ऐहिकतावाद को अपनाया है।

शुद्ध ऐहिकतावाद को समाजवादी रूस ने अपनाया है। इस ऐहिकतावाद में धर्म को कोई प्राश्रय नहीं दिया गया है, प्रत्युत दमित एवं शोषित वर्गों की माँग को दबाकर रखने के लिये ईश्वरवाद को अफीम की गोली बताया गया है। इसमें पारलौकिकतावाद (Supernaturalism) को अन्धविश्वास कहा गया है। ब्रिटेन और अमेरिका में ईश्वरवाद का विरोध नहीं किया जाता है, परन्तु राज्य का अब कोई ऐसा क्षेत्र नहीं है, जहाँ धर्म को किंचित् स्थान भी दिया गया हो। शिक्षा, उद्योग, साहित्य, मनोरंजन, कला आदि सभी क्षेत्रों में शुद्ध ऐहिकता का ही बोलबाला है। ऐहिकतावाद में ब्रह्मचर्य, पातिव्रत्य, धार्मिक अनुष्ठानपरायणता, गिरजाघरों में दान इत्यादि के स्थान पर कार्यदक्षता, कार्यकुशलता आदि को ही उत्कृष्ट नैतिक गुण माना जाता है। इस कार्यकुशलता को ध्यान में रखकर बैंक, रेल, अस्पताल, पोस्ट ऑफिस आदि राज्य-व्यवस्था में अनामत्व (Anonymity) को स्थान दिया जाता है,

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

वृत्तियों से संचालित होता है। वह समझता है कि उसमें उदात्त प्रवृत्तियाँ हैं। वास्तविकता तो यह है कि वह सुख-लोलुप होता है और सुख-प्राप्ति की झूठी और निरर्थक आशा करता है। जब सुख-प्राप्ति नहीं हो सकती, तब वह जीवन-संग्राम करना छोड़कर अन्त में मृत्यु-प्रवृत्ति की थपेड़ों में पड़कर काल-कवलित हो जाता है। न मानव में इस समय तक अपनी कोई स्वतन्त्रता है, न जीवन का कोई निःश्रेयस् है और न ही इसका कोई उद्देश्य है। हाँ, यदि कोई अपने को बच्चा बनाये रख सकता है, तो वह ईश्वर की कल्पना करके इस खयाली पुलाव का आस्वादन कर सकता है, काल्पनिक जन्नत में विचरण कर सकता है। परन्तु, जिस व्यक्ति में थोड़ी भी चेतना रह जाती है, वह इस शैशव कल्पना में आत्मविंस्मृति को नहीं अपना सकता है। विज्ञान का अनुसरण करता हुआ मानव विसंगति के नाटक के रंगमंच पर इस समय अपना अभिनय कर रहा है।

ईसाई धर्म ने सत्यता को अपनाया और सत्यता की खोज ने विज्ञानों की स्थापना की। इन वैज्ञानिक निष्कर्षों ने धर्म को ही निगल लिया है। पर, क्या यह आकस्मिक प्रगति है? नहीं। विज्ञान की विशेषता इसकी विधि में है और यदि हम इस वैज्ञानिक विधि को अपनायें, तो तर्कसंगत रूप में हमें निरीश्वरवाद को भी अपनाना होगा।

वैज्ञानिक विधि के स्वरूप के प्रसंग में बाद में चर्चा की जायगी। यहाँ इतना ही भर कहा जा सकता है कि विभिन्न धर्मों का अध्ययन वैज्ञानिक परिपाटी से करने पर ईसाइयों के लिये चिन्ताजनक विचार स्पष्ट होने लगा। ईसाई विचारक समझते थे कि आदिम जातियों का क्या कहना, अन्य सभ्य जातियों को भी ईश्वर का पूर्ण ज्ञान नहीं है। ईसाई धर्म में ही पूर्ण ईश्वर की सन्तोपजनक चर्चा की गयी है। परन्तु, जब विभिन्न जातियों के विभिन्न धर्मों का वैज्ञानिक अध्ययन प्रारम्भ हुआ, तब मानव-वैज्ञानिकों ने[१] आनुभविक खोजों के आधार पर स्थापित किया कि सभ्य जातियों की बात कौन कहे, अनेक आदिम जातियों में भी सर्वोच्च सत्ता (Most High God) तथा सर्व-पिता (All-Father) की भावना पायी जाती है। फिर, दुःखभोगी

---

१. Andrew Lang, R. H. Lowie और E. O. James इस परम्परा के प्रमुख मानव-वैज्ञानिक हैं।

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

तथा प्राणाहुति करनेवाले अवतारों की कथा अनेक जातियों में पायी जाती है। रॉबर्ट्सन स्मिथ ने यह भी स्पष्ट कर दिया कि ईसाइयों का प्रभु-भोज (Lord's Supper) आदिम जातियों की बलि-प्रथा से प्राप्त किया गया है। अतः, न तो ईश्वर-बोध और न ईसाई धर्मकथाओं को ऐकाधिकारिक रीति से अपनाया जा सकता है। यही नहीं, धर्मों के सम्बन्ध में धर्मवैज्ञानिकों को स्पष्ट मालूम देने लगा कि धर्म संस्कृति पर निर्भर करते आये हैं और चूँकि, संस्कृतियाँ विभिन्न रूपों में पायी जाती हैं, इसलिये धर्मों की विविधता, अनेकता तथा विभिन्नता अनिवार्यतः मानव-व्यापार हैं। अब तो यह भी स्पष्ट होता जा रहा है कि शायद परम्परागत धर्मों का अन्त आ गया है और ईश्वरवादी धर्मों को मानव के लिये अनिवार्य भी नहीं कहा जा सकता है। केवल फ्रॉयड ने ही यह नहीं कहा है कि मानव अब वयस्क हो गया है और उसकी शैशव कल्पना के रूप में धर्म का विलयन अनिवार्य है, परन्तु, पादरी बॉनहोयफर (Bonhoeffer) ने भी इस बात का अनुभव किया कि ईश्वरवादी धर्म इस युग की वयस्क अथवा प्रौढ सभ्यता के लिये अनावश्यक होता जा रहा है।

जो बात धर्मों के तुलनात्मक अध्ययन से स्पष्ट होती जा रही है, वही चिन्ताजनक निष्कर्ष बाइबिल के पाठालोचन (Textual Criticism) से भी पक्की होती जा रही है। बाइबिल के पाठालोचक बहुत दिनों से यह धारणा छोड़ चुके हैं कि बाइबिल वास्तव में श्रुत ईश्वर-वचन है। परन्तु, अब भी अनेक ईसाई इस बात को स्वीकार करते हैं, कि बाइबिल सन्तों के द्वारा ईश्वरीय उत्प्रेरणा से लिखा गया है और मानव के लिये इसे निर्भ्रान्त ईश्वर-वचन समझना चाहिये। बाइबिल के पाठालोचन से बाइबिल की निर्भ्रान्तिता एकदम काफूर हो गयी है। बाइबिल के कथनों में अनेक आत्मविरोधितायें हैं और शायद सभी स्थलों पर आध्यात्मिक पाठ के समझने में भी कठिनाई उठ सकती है। फिर, बाइबिल के पुराने नियम (Old Testament) की बात कौन कहे, नये नियम (New Testament) के सम्बन्ध में भी अनेक शंकायें उठायी गयी हैं।

इसमें सन्देह नहीं कि बाइबिल के अभिकथन विभिन्न रूपों में पाये जाते हैं, विशेषकर कुछ अभिकथनों को ऐतिहासिक कहा जायगा और अन्य कुछ प्रमुख अभिकथनों को धार्मिक गिना जायगा। उदाहरणतः, ईसा एक ऐतिहासिक

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

व्यक्ति का नाम है, जो एक यहूदी पुरुष थे और जिन्हें पिलात ने प्राणदण्ड दिया था। परन्तु, ऐतिहासिक ईसा उपास्य नहीं हैं, उनके प्रति भक्त आत्म-समर्पण नहीं करते हैं। इसका कारण है कि ऐतिहासिक ईसा मृत हैं और अब वह हमारे बीच नहीं हैं। परन्तु, उपास्य सत्ता को ईसाई ईश्वर का पुत्र तथा ख्रीष्ट (Christ) कहते हैं, जो मृत्यु पर विजयी हुआ और जो अमर होकर सर्व-कालीन और सर्वोपस्थित है। अब ईसा (जीसस) ऐतिहासिक जीव है। परन्तु, ख्रीष्ट विश्वास तथा आस्था (फेथ) का विषय है। ख्रीष्ट अमर और ईश्वर है।

ईसाई विश्वास में ईसा और ख्रीष्ट का अन्तर अवश्य पाया जाता है, परन्तु, ईसाई विश्वासी ईसा और ख्रीष्ट के बीच के भेद पर ध्यान नहीं देते थे। इसलिये, वे समझते थे कि बाइबिल में, विशेषकर नये नियम में, ख्रीष्ट-सम्बन्धी ऐतिहासिक अभिकथन हैं। वे समझते थे कि ख्रीष्ट ऐतिहासिक सत्ता है और 'सुसमाचार' (Gospel) में ख्रीष्ट-वचन हैं, जिन्हें ख्रीष्ट ने कहा था। इसी प्रकार, ईसाई समझते हैं कि कुँवारी मरियम, ख्रीष्ट की जीवनी, मृत्यु तथा उसका पुनरुत्थान इत्यादि सभी ऐतिहासिक अभिकथन हैं, जिन्हें पुरातन पत्रों में लिखित लेखों से प्राप्त किया जा सकता है। परन्तु, जब पाठालोचक सुसमाचारों का वैज्ञानिक अध्ययन करने लगे, तब निर्विवाद रीति से एक भी ख्रीष्ट-वचन ईसा-वचन, अर्थात् ऐतिहासिक अभिकथन नहीं दीख पड़े। यहांतक कि योहन-रचित सुसमाचार का ३।१६ पद भी क्षेपक सिद्ध हुआ। यह वही सुनहरा पद है, जिसे सम्पूर्ण ईसाई मत का सार-पद समझा जाता है। अतः, बाइबिल ऐतिहासिक रूप से सत्य वचन नहीं कहा जा सकता है। यह विश्वास-वचन-मात्र है। बाइबिल घोषित (Proclaimed) सुसमाचार है, जिसकी सत्यता व्यक्ति के अस्तित्वपरक (Existential) निर्णय से सिद्ध होती है, न कि ऐतिहासिक तथ्यों के आधार पर स्पष्ट की जा सकती है। यदि बाइबिल में वर्णित ख्रीष्ट की कथा इसलिये की गयी है कि ख्रीष्ट से प्रभावित होकर व्यक्ति अपने जीवन में अनुप्रेरणा प्राप्त करे, तो क्रूश की मौत से व्यक्ति को अनुप्रेरणा मिलती है कि वह ख्रीष्ट के समान लोक-कल्याण-हेतु अपनी बलि दे। सच्चा ईसाई वह है, जो ख्रीष्ट के पदचिह्न पर चलता हुआ मानव-कल्याण के हेतु अपने को अर्पित करे। बाइबिल की सत्यता विश्वासियों के जीवन और उनके आदर्शपूर्ण निधन से सिद्ध होती है।

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

यदि विश्वासी का जीवन, उसकी दिनचर्या और उसकी मृत्यु ऐसी हो कि अन्य विश्वासियों को अनुप्रेरणा प्राप्त हो, तो वास्तव में अमुक ईसाई का जीवन बाइबिल के अभिकथनों को पुष्ट करता है। परन्तु, ऐसी अवस्था में ख्रीष्ट विश्वास का विषय है, न कि ऐतिहासिक तथ्य का। ऐसा मान लेने पर बाइबिल[1] सत्य पुस्तक नहीं और न ईश्वर का देहधारी होना तथ्य समझा जा सकता है और न बाइबिल के अभिकथनों को ईश्वर का श्रुत वचन कहा जा सकता है। अतः, बाइबिल का निर्भ्रान्त होना नहीं स्वीकार किया जा सकता है और न बाइबिल के उपदेश-वाक्यों को ईश्वर-आज्ञा माना जा सकता है। शायद, ये निष्कर्ष ऐसे नहीं हैं, जिनसे ईसाई धर्म को बहुत क्षति पहुँच सकती है। परन्तु, निस्सन्देह, अधिकांश साधारण ईसाइयों के लिये, बाइबिल का पाठालोचन उनके विश्वास को शिथिल बनाने में समर्थ सिद्ध हुआ।

विज्ञान-विधि पर आधृत अनुभववाद तथा निरीश्वरवाद :

प्रायः कहा जाता है कि निरीक्षित प्रदत्तों के आधार पर प्राक्कल्पना बनायी जाती है और प्राक्कल्पना सत्यापित होकर वैज्ञानिक नियम का स्थान ग्रहण कर लेती है। इस विधि को सामान्यीकरण (Generalisation) कहा जाता है। परन्तु, आधुनिक काल में सामान्यीकरण को पूर्णतया वैज्ञानिक नहीं समझा जाता है। वैज्ञानिक विधि को हेत्वाश्रित-निगमनात्मक (Hypothetico-deductive) कहा जाता है। इसके अनुसार :

१. अनुभूत प्रदत्तों को ध्यान में रखकर सिद्धान्त-रचना की जाती है, परन्तु, स्वयं सिद्धान्त अनुभूत अथवा अनुभवाश्रित नहीं होता है। परन्तु, सिद्धान्त की रचना इसीलिये की जाती है कि इसके द्वारा अनुभूत घटनाओं की व्याख्या की जा सके। इसलिये, सिद्धान्त अनुभवजन्य न होने पर भी तथ्यों के प्रति निर्देशित रहता है।
२. सिद्धान्तों से प्रभावित होकर प्राक्कल्पनाओं की रचना की जाती है।
३. सिद्धान्त-प्राक्कल्पना को जोड़कर प्रेक्षणीय प्रदत्तों को निगमित (Derived, Deduced) किया जाता है।

---

१. अर्थात्, बाइबिल को पवित्र कहा जा सकता है, जो आस्था से उत्पन्न होता है, न कि संज्ञान से।

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

४. निगमित प्रेक्षणीयों को वास्तविक प्रदत्तों के आधार पर सत्यापित किया जाता है। यदि वास्तव में निगमित प्रेक्षणीय प्राप्त हो जाते हैं, तो प्राक्कल्पना को सत्यापित समझा जाता है। इसी प्रकार, बार-बार सत्यापित होते रहने पर प्राक्कल्पना पुष्ट होकर वैज्ञानिक नियम का स्थान ग्रहण कर लेती है।

५. प्राक्कल्पना, निगमन आदि को बिना गणितीय रूप में रखे हुए परिशुद्ध वैज्ञानिक नियम नहीं प्राप्त हो सकते हैं। गणित को विज्ञान की भाषा कहा जाता है। चूँकि, गणित विज्ञान के लिये आवश्यक होता है और चूँकि, गणित में प्रागनुभव तथा निगमनात्मक अंश पाये जाते हैं, इसलिये विज्ञान में इन दोनों प्रकार के अंशों को आवश्यक समझना चाहिये। परन्तु, बिना निरीक्षण के विज्ञान-सामग्री नहीं प्राप्त हो सकती है और इसलिये, विज्ञान में प्रेक्षणीयों अथवा निरीक्षणीयों को प्रमुख स्थान दिया जाता है। कहा जाता है कि विज्ञान का प्रारम्भ और अन्त दोनों, प्रेक्षणीयों में निहित रहता है। वैज्ञानिक विधि जटिल व्यापार है, तो भी कहा जा सकता है कि इसमें निगमन (Deduction) तथा गणित के अंशों के अनिवार्यतः रहते हुए भी इन्द्रियानुभव को प्रमुख स्थान दिया जा सकता है। यहाँ, यह भी चेतावनी दी जा सकती है कि विज्ञान में कोई भी पर्यवेक्षण बिना प्राक्कल्पना तथा सिद्धान्त के नहीं प्रतिपादित किया जाता है। परन्तु, गणित तथा प्राक्कल्पना के यथोचित स्थान को अपेक्षया बहुत बाद में, अर्थात् २०वीं शताब्दी के प्रारम्भ में ही स्थिर किया गया है। इसलिये, वैज्ञानिक परम्परा से प्रभावित होने पर प्रारम्भ में कुछ दार्शनिकों ने गणित को ही पूर्णतया वैज्ञानिक माना (उदाहरणार्थ : देकार्त, स्पिनोज़ा तथा लाइबनित्स) और कुछ दार्शनिकों ने इन्द्रियानुभव को ही विज्ञान का सार माना है, (उदाहरणार्थ : ह्यूम और मिल)। सच्ची बात तो यह है कि निरीक्षण तथा गणित के अवियोज्य सम्मिश्रण से ही विज्ञान-विधि सम्भव होती है। परन्तु, इन्द्रियानुभव को भी बड़ी व्यवस्थित तथा नियन्त्रित रीति से काम में लाया जाता है और इस बात को भी अतिसंक्षेप में स्पष्ट करना चाहिये।

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

प्लेटो की अपेक्षा अरस्तू को अनुभववादी कहा गया है; क्योंकि अरस्तू के अनुसार ध्यान (Contemplation) करने पर नहीं, परन्तु वस्तुविशिष्टों के निरीक्षण के फलस्वरूप ही प्रत्यय अथवा फॉम की स्थापना की जाती है। परन्तु, इस प्रकार के निरीक्षण को अनुभववादी नहीं कहा जायगा; क्योंकि निरीक्षण गौण है और सामान्य प्रत्ययों की स्थापना ही मुख्य विषय है। परन्तु, सच्चे अनुभववाद में इन्द्रियानुभव को ही मुख्य माना जाता है। वास्तव में, दर्शन के क्षेत्र में विज्ञान से प्रभावित अनुभववाद का प्रारम्भ बेकन (सन् १५६१—१६२६ ई०) से हुआ। बेकन ने इस बात पर जोर दिया कि शास्त्रीय तथा पुरानी पद्धति को छोड़कर अनुभव-केन्द्रित आगमन-विधि की मदद लेनी चाहिये। साथ-ही-साथ यह भी बताया कि अनुभव को किस प्रकार काम में लाया जा सकता है। अनुभव को व्यवस्थित रूप से काम में लाने के लिये बेकन ने तीन विधियों का उल्लेख किया है, अर्थात् अन्वय-तालिका (Tabula Presentiae), व्यतिरेक-तालिका और क्रम-तालिका (Tabula Graduum)। परन्तु, बेकन स्वयं वैज्ञानिक नहीं थे और इसलिये उनकी आगमन-विधि को निम्नलिखित कारणों से वैज्ञानिक नहीं समझा जा सकता है :

१. बेकन की आगमन-विधि का मुख्य उद्देश्य था कि अरस्तूवादी फॉम का आविष्कार किया जाय। इसके विपरीत विज्ञान का उद्देश्य है कि प्राकृतिक नियमों की स्थापना की जाय।

२. फिर, बेकन की विधि में गणित और निगमन का भी स्थान नहीं स्वीकारा गया है।

३. वास्तव में, वैज्ञानिक विधि आगमन नहीं, प्रत्युत हेत्वाश्रित-निगमनात्मक होती है और बेकन की विधि में प्राक्कल्पना को कोई भी स्थान नहीं दिया गया है। इसके विपरीत, बेकन ने कहा है कि पूर्वकल्पना नहीं करनी चाहिये।

बाद में चलकर जॉन स्टुअर्ट मिल ने (सन् १८०६—१८७३ ई०) बेकन की आगमन-विधि को पूरा किया और पाँच अभिनियमों (Canons) को स्थापित कर आकस्मिक घटकों के निरास (Elimination) तथा वास्तविक कारण के सत्यापन पर जोर दिया। यह ठीक है कि इस समय मिल के सिद्धान्त को भी युक्तिसंगत तथा पर्याप्त नहीं कहा जायगा। परन्तु, इन दार्शनिकों के मत ने दो निष्कर्षों को असाक्षात् रीति से स्थापित किया है :

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

(अ) 'अनुभव' को धार्मिक उद्देश्यों की पुष्टि के लिए नहीं, वरन् ऐहिक तथा प्राकृतिक नियमों की स्थापना के लिये ही यथोचित रीति से काम में लाया जा सकता है।

(आ) फिर, उसी निष्कर्ष को सत्य माना जायगा, जिसे अन्त में इन्द्रियानुभव पर आधृत किया जा सकता है।

इस सन्दर्भ में ह्यूम की उक्ति उल्लेखनीय है :

> यदि हम अपने हाथ में ईश्वरदर्शन तथा तत्त्वमीमांसा के किसी ग्रन्थ को, उदाहरणार्थ लें, तो इसके सन्दर्भ में हम पूछें, क्या इसके अन्तर्गत संख्या अथवा परिमाण-सम्बन्धी अमूर्त्त युक्तियाँ हैं? नहीं। क्या इसमें अस्तित्व (Existence) तथा तथ्य-सम्बन्धी प्रयोगात्मक युक्तियाँ हैं? नहीं। तो, इसे अग्नि-विसर्जन कर दो; क्योंकि इनमें छल तथा भ्रम के अतिरिक्त अन्य कुछ नहीं हो सकता है।

इसलिये, ह्यूम का सुझाव था कि किसी भी तथ्यात्मक अभिकथन को अर्थपूर्ण होने के लिये उसे किसी-न-किसी संवेदन-छाप पर आधृत होना चाहिये। इस कसौटी को ध्यान में रखकर ह्यूम ने द्रव्य तथा कारण-कार्य-सिद्धान्त का विश्लेषण किया है। प्रायः समझा जाता है कि परिवर्त्तनशील गुणों के अतिरिक्त उन गुणों का कोई स्थायी आश्रय होता है, जो उन्हें धारण किये रहते हैं। परन्तु, इस प्रसंग में ह्यूम का प्रश्न है, 'गुणों को हम इन्द्रियानुभव से जानते हैं, पर इन गुणों के आश्रय स्थायी द्रव्य को हम कैसे निर्धारित करते हैं?' निर्धारित करने की एक ही विधि है, अर्थात् इन्द्रियानुभव से सिद्ध करना। अब क्या स्थायी द्रव्य नाक से जाना जाता है? यदि ऐसी बात हो, तो द्रव्य एक परिवर्त्तनशील गन्ध-संवेदना होगी; यदि यह द्रव्य आँखों से अनुभूत हो, तो यह रंग-संवेदना होगी, यदि कान से यह स्थायी आश्रय जाना जाय, तो यह श्रवण-संवेदना होगी। परन्तु, कहा जाता है कि यह द्रव्य संवेदनायें नहीं, परन्तु इनके द्वारा इंगित गुणों का आश्रय है। इस रूप में आश्रय-रूप द्रव्य अज्ञात और अज्ञेय हैं और यह किसी भी चिन्तन का उचित विषय नहीं हो सकता है। इसलिये, ह्यूम ने द्रव्य-प्रत्यय को खोखला और काल्पनिक भ्रम कहा है।

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

इसी प्रकार ह्यूम ने कारण-कार्य-प्रत्यय का गम्भीर विश्लेषण किया है। कारण-कार्य का सम्बन्ध दो आनुक्रमिक घटनाओं के बीच पाया जाता है। उदाहरणार्थ, अग्नि को कारण और ताप को कार्य कहा जाता है। यह ठीक है कि आनुक्रमिक घटनाओं में पूर्व और अपर का सम्बन्ध देखा जाता है और कारण को नित्यपूर्ववर्त्ती घटना कहा जाता है। दिन और रात के बीच भी नित्य पूर्ववर्त्तित्व का सम्बन्ध देखा जाता है, परन्तु कोई भी दिन या रात को एक-दूसरे का कारण नहीं मानता है। इसका कारण यह है कि नित्य पूर्ववर्त्तित्व के साथ कारण-कार्य के बीच अनिवार्यता (Necessity) का सम्बन्ध पाया जाता है। पर, किसी भी लक्षण को वास्तविक होने के लिये ह्यूम की कसौटी है कि उस लक्षण को संवेदन-छाप से प्राप्त करना चाहिये। पर, अनिवार्यता को नाक, कान, आँख, चर्म आदि किसी भी इन्द्रिय से नहीं जाना जा सकता है।[1] कोई भी अनुभूत घटना के सम्बन्ध में यही कहा जा सकता है कि अमुक घटना अमुक रीति से घटती आयी है। पर, यह नहीं कहा जा सकता है कि अमुक घटना अवश्यमेव होती जायगी। इसलिये, ह्यूम के अनुसार कारण-कार्य का भी प्रत्यय मिथ्या, खोखला तथा भ्रममात्र है। पर, क्या द्रव्य तथा कारण-कार्य के प्रत्ययों को त्यागा जा सकता है? नहीं। क्यों? क्योंकि, ये प्रत्यय तथ्यों से नहीं प्राप्त किये जाते हैं, परन्तु ये प्रत्यय मानसिक स्वरूप से ही प्राप्त होते हैं। कोई भी वस्तु या घटना 'कारण' नहीं कही जा सकती है। परन्तु, मानव-मन की ऐसी प्राकृतिक रचना है कि यदि दो घटनायें एक साथ या आनुक्रमिक रूप से वार-बार घटें, तो पूर्ववर्त्ती घटना को देखते ही हम उत्तरवर्त्ती घटना के होने की प्रतीक्षा करने लगते हैं। कोई तार्किक हेतु ऐसा नहीं है, जिसके आधार पर अग्नि को देखकर ताप की कल्पना की जा सकती है। प्रत्युत, हम कल्पना कर सकते हैं कि अग्नि से ताप न होकर ठण्डक

१. ह्यूम अनुभववादी थे, इसलिये उनकी व्याख्या भी अनुभववादी है। कारण-कार्य में निहित अनिवार्यता को सहचार, अर्थात् बार-बार घटित घटनाओं की अनुभूति से प्राप्त कहा गया है। फिर, चूँकि यह सहचार अनुभूत होने के कारण भिन्न-भिन्न मानवों में विभिन्न रूपों से पाया जा सकता है, इसलिये इसे आत्मनिष्ठ (Subjective) कहा गया है। ह्यूम के विपरीत कान्त ने कारण-कार्य की अनिवार्यता को मानसिक कहकर इसे प्रागनुभविक कहा है। अतः, ह्यूम की व्याख्या मनोवैज्ञानिक है और कान्त की व्याख्या तार्किक कही जाती है।

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

प्राप्त हो। परन्तु, अग्नि और ताप को बार-बार घटते देखकर इनके बीच सहचार हो सकता है। मन की ऐसी रचना ही है कि जब दो या दो से अधिक घटनाओं के बीच सहचार (Association) का सम्बन्ध हो जाता है, तब मन एक घटना को प्राप्त करते ही दूसरी घटना की प्रतीक्षा करने के लिये बाध्य हो जाता है। अतः, कारण-कार्य में निहित अनिवार्यता तथ्यात्मक नहीं है। यह मानसिक तथा आत्मनिष्ठ अनिवार्यता है। ह्यूम की व्याख्या मनोवैज्ञानिक है; क्योंकि उन्होंने द्रव्य, कारण-कार्य आदि को स्पष्ट करने के लिये अनुभूत मन के स्वरूप पर अपनी व्याख्या को आधृत किया है। इसके विपरीत कान्त की व्याख्या को तार्किक कहा जायगा। कान्त ने भी द्रव्य, कारण-कार्य तथा अन्य मूलप्रत्ययों (Categories) को मन के स्वरूप पर आधृत किया है। परन्तु, कान्त के अनुसार, यह मानव-मन, जिससे मूलप्रत्यय प्राप्त होते हैं, अननुभूत तथा सर्वव्यापक मन है। कान्त ने मूलधारणाओं को प्रागनुभव (A priori) बताया है।

समकालीन अनुभववाद में ह्यूम तथा कान्त दोनों की देन को अपने-अपने रूप में अपनाया गया है। ह्यूम का साक्षात् सम्बन्ध रसेल के साथ हो सकता है और कान्त का साक्षात् सम्बन्ध वित्तगिन्स्ताइन के साथ किया जा सकता है।[1] भाषीय (Linguistic) विश्लेषण के अनुसार सर्वप्रथम अभिकथनों को संज्ञानात्मक और असंज्ञानात्मक इन दो वर्गों में विभाजित किया जा सकता है। संज्ञानात्मक अभिकथन वे हैं, जिनमें किसी वस्तुविशेष का वर्णन तथा तत्सम्बन्धी सूचना दी जाती है, अथवा जिनमें शब्दों को उनकी परिभाषा के अनुसार संगत रूप से व्यवहृत किया जाता है। संज्ञानात्मक अभिकथनों को विश्लेषात्मक तथा संश्लेषात्मक वर्गों में विभाजित किया जाता है।

अभिकथन

- संज्ञानात्मक
  - १. संश्लेषात्मक
  - २. विश्लेषात्मक
- असंज्ञानात्मक
  - प्रतीकात्मक
  - अप्रतीकात्मक

---

१. देखें, David Pears, *Wittgenstein*, Fontana Modern Masters, 1971. *Introduction*. ऐयर अपना सम्बन्ध ह्यूम के साथ जोड़ना अच्छा समझते हैं।

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

विश्लेषात्मक अभिकथन वे हैं, जिनके उद्देश्य-पदों को उनकी परिभाषा के अनुरूप विधेय-पद में व्यवहृत किया जाता है। अतः, बिना आत्मविरोध के विधेय-पद को नहीं नकारा जा सकता है। उदाहरणार्थ, 'लाल गुलाब लाल है।'

यहाँ संगत रीति से 'लाल' को 'लाल गुलाब' के प्रसंग में नकारा नहीं जा सकता है, अर्थात् हम संगत रीति से नहीं कह सकते हैं कि **लाल गुलाब हरा है।**

विश्लेषात्मक अभिकथनों में शब्दों का विश्लेषण-मात्र किया जाता है और शब्दों के अनुरूप सत्ता पर ध्यान नहीं दिया जाता है। इसके विपरीत संश्लेषात्मक अभिकथन वे हैं, जिनके उद्देश्य तथा विधेय-पदों को केवल अनुभव के ही आधार पर जोड़ा (संश्लिष्ट) जा सकता है। उदाहरणार्थ : **कौवे काले होते हैं। गुलाब सुगन्धित होता है।** यहाँ 'कौवे' और 'कालेपन' को और 'गुलाब' और 'सुगन्धित्व' को केवल अनुभव के आधार पर जोड़ा गया है, चूँकि इन उद्देश्य और विधेय-पदों का संश्लेष अनुभव पर आधृत होता है, इसलिये संश्लेषात्मक अभिकथनों को अनुभवाश्रित (Empirical) भी कहा जाता है। फिर, चूँकि केवल अनुभव के ही आधार पर तथ्यों को निश्चत किया जाता है, इसलिये संश्लेषात्मक अभिकथनों को तथ्यात्मक (Factual) भी कहा जा सकता है। विश्लेषात्मक अभिकथनों की तुलना में संश्लेषात्मक अभिकथनों के विधेय-पद को बिना किसी आत्मव्याघात के नकारा जा सकता है। उदाहरणार्थ, **कौवे हरे होते हैं। गुलाब गन्धहीन होते हैं।**

यह ठीक है कि वास्तव में किसी ने हरे कौवे को नहीं देखा है। पर, इसकी हम कल्पना कर सकते हैं। चूँकि विश्लेषात्मक अभिकथनों में विधेय-पद संगत रीति से नहीं नकारा जा सकता है, इसलिये विश्लेषात्मक अभिकथनों में अनिवार्यता पायी जाती है। इसके विपरीत, चूँकि संश्लेषात्मक अभिकथनों में विधेय-पद को बिना किसी आत्मव्याघात के नकारा जा सकता है, इसलिये संश्लेषात्मक अभिकथनों में अनिवार्यता के स्थान पर आकस्मिकता अथवा आपातिकता (Contingency) पायी जाती है। अतः, संगत रीति से किसी कथन को अनिवार्य और आपातिक नहीं कहा जा सकता है, दूसरे शब्दों में सत्ता-सम्बन्धी अथवा तथ्यपरक अभिकथनों को अनिवार्य नहीं कहा जा सकता है; क्योंकि ऐसे अभिकथन संश्लेषात्मक होने के हेतु केवल आपातिक ही हो सकते हैं।

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

बहुसंख्य ईसाई दार्शनिक अब भी सोचते हैं कि ईश्वर-सम्बन्धी अभिकथन संज्ञानात्मक हैं। अर्थात्, या तो वे विश्लेषात्मक या संश्लेषात्मक होते हैं। परन्तु, ऐसा मान लेने पर अन्त में ईश्वर-सम्बन्धी अभिकथन आत्मविरोधी, खोखले तथा विसंगत (Absurd) सिद्ध हो जाते हैं। पहली बात है कि ई-कथन[1] विश्लेषात्मक नहीं ही हो सकते हैं; क्योंकि ईश्वर को एक वास्तविक सत्ता स्वीकार किया जाता है, न कि कोई एक परिभाषित शब्द। ईश्वर वह परम सत्ता है, जो व्यक्तित्वपूर्ण है और जो भक्तों के क्रन्दन को सुनता है। ईश्वर 'त्रिभुज', 'रेखा' आदि के समान परिभाषित शब्द नहीं है। इसलिये, यदि ईश्वर को वास्तविक सत्ता माना जाय, तो ईश्वर-सम्बन्धी कथन को संश्लेषात्मक ही कहा जायगा, न कि विश्लेषात्मक। अब ई-कथन को संश्लेषात्मक मानने के लिये स्वीकारना होगा कि ई-कथन आपातिक ही हो सकता है, न कि अनिवार्य। परन्तु, हमलोगों ने इस अध्याय को प्रारम्भ में ही देखा है कि ईसाइयों के लिये यदि ईश्वर है, तो वह उपास्य होगा। यदि ईश्वर उपास्य हो, तो उसका अस्तित्व और उसके उदात्त गुण ऐसे होने चाहिये कि उनके नहीं होने की कल्पना भी नहीं की जा सके। परन्तु, वह, जिसके नहीं होने की कल्पना तक नहीं की जा सके, उसे 'अनिवार्य' कहा जाता है। परन्तु, अनिवार्यता केवल विश्लेषात्मक अभिकथनों में ही देखी जाती है। तब क्या ई-कथन संश्लेषात्मक होते हुए भी अनिवार्य कहे जा सकते हैं? नहीं, क्योंकि, ऐसा कहने का अर्थ होगा कि संश्लेषात्मक अभिकथन विश्लेषात्मक होता है और यह आत्मविरोधी उक्ति होगी। अतः, उपास्य ईश्वर का प्रत्यय ही ऐसा होता है कि आत्मविरोध हो जाता है। उपास्य ईश्वर का प्रत्यय है अनिवार्य सत्ता (Necessary Being)। यदि ईश्वर अनिवार्य हो (अर्थात्, ई-कथन अनिवार्य हो), तो 'ईश्वर' केवल शब्द-मात्र हो जाता है और तब उसे सत्ता नहीं कहा जा सकता है; और यदि ईश्वर सत्ता हो, तो अन्य किसी भी वास्तविक सत्ता के समान उसके नहीं होने की कल्पना की जा सकती है, अर्थात् वह अनिवार्य न होकर केवल आपातिक ही हो सकता है। इसलिये, ईश्वर को अनिवार्य सत्ता नहीं कहा जा सकता है। अब चूँकि ईश्वर-भावना वन्ध्या माता के पुत्र के समान विसंगत है, इसलिये ईश्वर-भावना के अनुरूप सत्ता हो ही नहीं सकती है। इसे सत्ता-मूलक निरीश्वरवाद (Ontological atheism)

१. अर्थात्, 'ईश्वर-सम्बन्धी-कथन' का संक्षिप्त रूप है 'ई-कथन'।

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

कहा जाता है, जो अनुभववादी संज्ञानात्मक अभिकथनों के स्पष्टीकरण से सिद्ध होता है। फिर, अनुभववाद के अनुसार किसी भी तथ्यात्मक अभिकथन को सबसे पहले अर्थपूर्ण सिद्ध करना चाहिये, तब बाद में उसे सत्य-असत्य सिद्ध किया जा सकता है। परन्तु, किसी भी तथ्यात्मक अभिकथन को अर्थपूर्ण होने के लिये इसमें सत्यापनीयता (Verifiability) तथा मिथ्यापनीयता (Falsifiability) के दो सिद्धान्तों को लागू करना चाहिये। क्या ई-कथन को सत्यापनीय तथा मिथ्यापनीय कहा जा सकता है ?

ईश्वर-सम्बन्धी कथनों की सत्यापनीयता-मिथ्यापनीयता:

ह्यूम ने तथ्यात्मक कथनों को ध्यान में रखकर कहा था कि मानव अपनी कल्पना को स्वर्ग अथवा ब्रह्माण्ड के अन्तिम छोर तक क्यों नहीं दौड़ाये, परन्तु अन्त में उसके तथ्यात्मक विचार प्रत्यक्षों की संकीर्ण सीमा से बाहर नहीं जा सकते हैं। कान्त ने भी ह्यूम के इस मत का समर्थन किया है। कान्त के अनुसार, भी तथ्यों का वैज्ञानिक ज्ञान प्रत्यक्षों की लक्ष्मण-रेखा को नहीं पार कर सकता है। समकालीन २०वीं शताब्दी में रसेल, प्रारम्भिक वित्तगिन्स्ताइन तथा तार्किक प्रत्यक्षवादियों ने (Logical positivists) स्थापित किया है कि अन्त में सभी प्रकार के तथ्यात्मक कथनों को सरल अथवा अणु-वाक्यों (Atomic propositions) में आकृत्यन्तरित (Reduced) किया जा सकता है और अणु-वाक्य वे हैं, जो उँगली से इंगित किये गये इन्द्रिय-प्रदत्तों का वर्णन-मात्र करते हैं। अतः, अनुभववाद के अनुसार अन्त में किसी भी तथ्यात्मक कथन को तभी अर्थपूर्ण समझा जायगा, जब इसे साक्षात् इन्द्रियानुभव से पुष्ट-अपुष्ट अथवा सत्य-असत्य ठहराया जाय। इसी बात को प्रो० ए० जे० ऐयर ने सत्यापन-सिद्धान्त की संज्ञा दी है।

सत्यापन-सिद्धान्त का सूत्रीकरण (Formulation) सन्तोषजनक नहीं सिद्ध हुआ है। तो भी आलोचकों का कहना है कि इस सत्यापन-सिद्धान्त के अनुसार स्पष्ट किया जा सकता है कि किस कथन को तथ्यात्मक स्वीकार किया जाय और किस कथन को तथ्यात्मक नहीं स्वीकार किया जाय (कार्नप, ऐयर, माइल्स, रसेल, फाइगल्स आदि)। परन्तु, शायद कार्ल पॉपर ने ही किसी भी कथन की तथ्यात्मकता को निर्धारित करने के लिये संगत कसौटी रची है :

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

कोई भी वैज्ञानिक कथन जितने अधिक तथ्यात्मक होंगे, वे उतने ही अधिक मिथ्यापनीय भी होंगे। जितनी दूर तक वे मिथ्यापनीय नहीं हैं, उतनी दूर तक वे तथ्यात्मक भी नहीं कहे जा सकते हैं।

यदि ई-कथन को संज्ञानात्मक तथा तथ्यात्मक माना जाय, तो उसे अवश्य मिथ्यापनीय भी होना चाहिये। परन्तु, निम्नलिखित कारणों से ई-कथन को मिथ्यापित नहीं किया जा सकता है :

१. ईश्वर-सम्बन्धी कथनों में शब्दों को ईश्वर के लिये शब्दशः नहीं प्रयुक्त किया जाता है। उदाहरणार्थ, 'ईश्वर प्रेम है।' परन्तु, क्या ईश्वर का प्रेम पति का है, या पत्नी का या पिता का है, या माता का है इत्यादि ? यदि ईश्वरीय प्रेम को इस प्रकार के अनुभूत अथवा साधारण प्रेम कहा जाय, तो विश्व की अशुभ समस्या का समाधान नहीं हो सकता है। पूछा जा सकता है, यदि ईश्वर का प्रेम साधारण मानव का प्रेम हो, तो ईश्वर अपनी सृष्ट सन्तानों को क्यों दुःख से नहीं बचाता है ? क्यों विधवा का एकलौता पुत्र भी जवानी में मर जाता है ? क्यों बुढ़ापा, बीमारी और मृत्यु होती है ? क्यों सूखा-बाढ़, संक्रामक रोग आदि पाये जाते हैं ? जब साधारण मानव-पिता अपनी सन्तान की उँगली के भी दर्द को दूर करने का प्रयास करता है, तब असीम प्रेमी ईश्वर अपनी सन्तान के दुःखों का क्यों नहीं निवारण करता है ? इस प्रकार के प्रश्न पूछे जाने पर ईश्वरवादी अनेक प्रकार से अपनी प्रतिरक्षा में तर्क प्रस्तुत किया करते हैं। परन्तु, उनकी मुख्य दलील यही रहती है कि ईश्वर-सम्बन्धी शब्द शब्दशः (Literally) नहीं प्रयुक्त किये जाते हैं। ईश्वर प्रेमी है अवश्य, पर ईश्वर का प्रेम साधारण व्यक्तियों का प्रेम नहीं है। परन्तु, अनुभववादी इस नकारात्मक उत्तर से सन्तुष्ट नहीं हो सकता है।

तो ईश्वरीय प्रेम को हम कैसे जान सकते हैं ? क्या ईश्वरीय प्रेम का निर्णायक प्रयोग किया जा सकता है ?

ईश्वरवादी—नहीं ! (क) क्योंकि, मानव ईश्वर के असली स्वरूप को नहीं जान सकता है। ईश्वर का प्रेम रहस्यपूर्ण हुआ करता है।

(ख) फिर, ईश्वर के सन्दर्भ में शब्दों को साम्यानुमानिक रीति से ही प्रयुक्त किया जाता है।

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

(ग) अपितु, ईश्वर की कार्यवाही सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड के स्तर पर प्रतिपादित होती है। जबतक हमें सम्पूर्ण विश्व का ज्ञान नहीं हो, तबतक हमें ईश्वर की कार्यवाही का ज्ञान नहीं हो सकता है।

(घ) मानव का ऐहिक जीवन उसके सम्पूर्ण जीवन का एक छोटा-सा अध्याय है। मानव-ज्ञान कुछ दूर तक मरणोत्तर जीवन में स्पष्ट होता है। अतः, ईश्वरीय प्रेम तथा ईश्वर-सम्बन्धी अन्य सभी बातें अनुजीवन में ही पुष्ट-अपुष्ट हो सकती हैं। इसलिये, ईश्वरीय प्रेम की कथा भी अनुजीवन की अनुभूति से ही सिद्ध-असिद्ध हो सकती है।

अनुभववादी—परन्तु, अनुभववादी दृष्टि में ईश्वरवाद के समर्थन में प्रस्तुत सभी प्रतिरक्षात्मक तर्क वास्तव में कुतर्क हैं :

(क) रहस्यपूर्णता मानव-ज्ञान-परिधि से बाहर है और इसलिये रहस्यपूर्णता के आधार पर दर्शन में संगोष्ठी नहीं हो सकती है। दार्शनिक कथनों को सार्वजनिक, संज्ञापनीय (Communicable) तथा आवृत्तीय (Repeatable) अनुभूति पर आधृत होना चाहिये। रहस्यानुभूति मूक होती है। इसलिये, दार्शनिक चिन्तन में रहस्यानुभव को स्थान नहीं दिया जा सकता है। अतः, ईश्वरीय प्रेम को रहस्यपूर्ण कहकर ईश्वरीय प्रेम-सम्बन्धी कथन को अर्थपूर्ण नहीं माना जा सकता है।

(ख) अनुभववादी की दृष्टि में साम्यानुमानिक तर्क से ई-कथन की अर्थपूर्णता स्पष्ट नहीं होती है। अन्त में, टॉमसवादी साम्यानुमान-सिद्धान्त का निष्कर्ष अज्ञेयवाद में परिणत हो जाता है।[1] इस अज्ञेयवाद से किसी भी आपत्ति का समाधान नहीं हो सकता है।

(ग) कान्त ने पहले ही कहा था कि ब्रह्माण्ड का सम्पूर्णत्व समस्याभास है। सम्पूर्ण विश्व किसी भी इन्द्रियानुभव में नहीं समा सकता है। इसलिये अनुभववादी दृष्टि से जो अनुभव से अतीत है, वह मानव-ज्ञान से भी अतीत है। अतः, अनुभवातीत तत्त्वमीमांसा के आधार पर किसी भी दार्शनिक कथन को पुष्ट नहीं किया जा सकता है।

१. देखें, या० मसीह, समकालीन धर्मदर्शन, पृ० ३१२—३१६।

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

(घ) अनुजीवन भी विश्वास-कथन (Article of faith) है, न कि परीक्षणीय कथन। इस विश्वास-वचन के आधार पर ईश्वरीय प्रेम को अर्थ-पूर्ण नहीं किया जा सकता है।[1]

परन्तु, वास्तविक बात है कि ई-कथन मिथ्यापनीय नहीं हो सकते हैं; क्योंकि—

१. ई-कथन तत्त्वमीमांसात्मक होते हैं। ईश्वरवादी भी ईश्वर को सर्वगत मानते हैं और कोई ऐसी घटना नहीं हो सकती, जिसमें ईश्वर न हो।

> **जाहिद ! शराब पीने दे मस्जिद में बैठकर,**
> **या वह जगह बता दे जहां खुदा न हो।**

इसलिये, ई-कथन सभी स्थितियों में सिद्ध कहा जाता है। परन्तु, ऐसा कथन, जो सभी स्थितियों में एकरूप सत्य हो, पुनरुक्ति (Tantology) कहा जाता है, न कि तथ्यात्मक अभिकथन। अतः, ई-कथन ईश्वरवादी की मान्यता के अनुसार मिथ्यापनीय नहीं हो सकता है।

२. वास्तव में देखा जाय, तो ई-कथन आस्थामय होते हैं और आस्थामय होने के कारण ई-कथन को प्रयोगात्मक रीति से प्रयुक्त नहीं किया जाता है। ईश्वरवादी ई-कथन को अपनी सम्पूर्ण टेक तथा सामर्थ्य के साथ प्रयुक्त करता है। इस सम्पूर्ण तथा निरपेक्ष आस्था में ईश्वर को परीक्षणीय प्राक्कल्पना के रूप में नहीं स्वीकार किया जाता है। कोई भक्त ऐसा नहीं कह सकता है : 'यदि मैं परीक्षा में उत्तीर्ण हो जाऊँ, तो मैं ईश्वर के अस्तित्व को स्वीकार करूँगा, अन्यथा नहीं।' यदि भक्त को ईश्वर के प्रति सन्देह हो जाय, तो उसे ईश्वर के प्रति आस्था नहीं होगी। यदि आस्थामय ई-कथन अपरीक्षणीय हो, तो इसे कैसे मिथ्यापनीय कहा जायगा ?

३. रसेल ने अपने वर्णन-सिद्धान्त (Theory of description) में बताया है कि अस्तित्ववाची कथन (Existence statement) वर्णनात्मक होते हैं और उनका सम्बन्ध विशिष्टवाची अथवा व्यक्तिवाची नहीं होता है। चूँकि, ईश्वरवादी प्रायः ई-कथनों में ईश्वर के अस्तित्व का उल्लेख किया करते हैं, इसलिये ई-कथन को वर्णनात्मक माना जायगा, न कि व्यक्तिवाची अथवा तथ्यात्मक।

---

१. समकालीन धर्मदर्शन, पृ० २९४-२९५, ३०२-३०३।

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

अतः, ई-कथन को मिथ्यापनीय नहीं माना जा सकता है, पर क्या ई-कथन को सत्यापनीय भी कहा जा सकता है ? नहीं। क्योंकि, ईश्वर अशरारी है और फिर, वह इन्द्रियातीत है। इसलिये ई-कथन न तो सत्यापनीय है और न मिथ्यापनीय। वे इसलिये तथ्यात्मक कहे ही नहीं जा सकते हैं, अर्थात् ईश्वर वास्तविक नहीं हो सकता है। जो निष्कर्ष विज्ञानाश्रित अनुभववाद से सिद्ध होता है, वही निष्कर्ष विज्ञानाधृत ऐहिकतावाद अथवा लौकिकवाद (Secularism) से भी स्पष्ट होता है।

विज्ञानाश्रित ऐहिकतावाद तथा निरीश्वरवाद :

जिस प्रकार वैज्ञानिक विधि पर आधृत अनुभववाद माना जाता है, उसी प्रकार ऐहिकतावाद भी विज्ञान-विकास से साक्षात् रीति से निस्सृत हुआ है। ईसाई धर्मदार्शनिकों की चखचुख से तर्कबुद्धि का उदय हुआ और तर्कबुद्धि के द्वारा नवजागरण हुआ और नवजागरण ने विज्ञान के विकास को प्रोत्साहित किया तथा विज्ञान से तकनीकी (Technocraft) तथा औद्योगिकीकरण (Industrialisation) का प्रादुर्भाव हुआ। तकनीकी तथा औद्योगिकीकरण के आधार पर बहुहिताय-बहुसुखाय के लोक-संग्रह के आदर्श की स्थापना हुई। तकनीकी के प्रचार एवं प्रसार के साथ सभी क्षेत्रों में मानव-कलाकौशल की शक्तिमत्ता का ज्ञान हुआ और तब ईश्वर भी सभी क्षेत्रों से निष्कासित होकर मानव-जीवन से दूरस्थ हो गया है। इसी को 'ईश्वर का मनोवैज्ञानिक एवं सांस्कृतिक निधन' कहते हैं। अब इन बातों का स्पष्टीकरण किया जायगा।

ऐहिकतावाद (Secularism) को प्रायः धर्म-निरपेक्षतावाद कहा जाता है। यदि निरपेक्षतावाद से धर्म के प्रति तटस्थता का भाव समझा जाय, तो ऐहिकतावाद को धर्मतटस्थता माना जा सकता है। परन्तु, ऐहिकतावाद की धर्मतटस्थता इसका गौण लक्षण है, न कि मुख्य लक्षण। इसका कारण है कि ऐहिकतावाद में ऐहिक जीवन को सर्वस्व माना जाता है और इसी ऐहिक जीवन को सुखी बनाने का मानव का चरम उद्देश्य समझा जाता है। इस रूप में बहुधा ऐहिकतावाद तथा धर्म में संघर्ष हो जाता है और इसलिये, ऐहिकतावाद को धर्मनिरपेक्ष नहीं कहा जा सकता है। ऐहिकतावाद के अनुसार ऐहिक बहुसुखाय-बहुहिताय की परियोजना में यदि परम्परागत धर्म अथवा ईश्वरवादी पारलौकिक आदर्श से अड़चन पहुँचे, तो धर्म को अपनी पारलौकिकता

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

न कि व्यक्तिगत सम्बन्ध को। फिर, प्रयोजना-केन्द्रित कार्यभार को पूर्ण मान्यता दी जाती है, ताकि व्यक्तियों को अपने कार्य-सम्पादन में समाज-सेवा, मानव-कल्याण आदि उद्देश्यों के प्रति अनुप्रेरित होकर अपने जीवन को मूल्यपूर्ण समझने में आत्मनिवेदन का भाव अनुभूत हो। सभी स्थितियों में लौकिक उद्देश्यों को ही बढ़ावा दिया जाता है। पर, क्या इस विचारधारा (Ideology) को संतोषजनक समझा जा सकता है ? शुद्ध ऐहिकतावाद सभ्य देशों का युगदर्शन माना जाता है, तो भी इसकी कठिनाइयों के प्रति विचारकों को विमुख नहीं रहना चाहिये।

ईश्वरवाद में अनेक खामियाँ हैं, तो भी इनके बावजूद ईश्वरवाद द्वारा मानव के बौद्धिक क्षितिज का विस्तार हुआ था और सूक्ष्म तथा सारगर्भ अनुभूतियों के लिये नया आयाम खुल गया था। ऐहिक जीवन में अपने को सीमित रखकर मानव को वैसा ही महसूस होता है, जैसे पक्षियों को तथा जंगल में स्वच्छन्द विचरनेवाले पशुओं को पिंजड़े में बन्द रहने पर उनकी साँस घुटती है। मानव की अन्तिम गति वही है, जो आकाशचारी चिड़ियों की तथा थलचर पशुओं की है। कहाँ स्वर्ग का और कहाँ अब मर्त्यलोक का मानव जीव हो गया है। उसकी अन्तिम कहानी यही है कि वह धूल से उत्पन्न होकर धूल में ही मिल जाता है। यही है जीवन की निस्सारता और निरुद्देश्यता।

फिर, ईश्वरवाद के अनुसार ईश्वर ने मानव के लिये जीवन का उद्देश्य निर्धारित किया है। ईश्वर ने मानव को अनेक आज्ञायें पालन करने के लिये दी हैं। यदि वह उन आज्ञाओं का पालन करे, तो वह पवित्र जीव बनकर स्वर्ग में ईश्वर की सहभागिता का अधिकारी होगा। परन्तु, यदि ईश्वर न हो, तो इस जीवन का उद्देश्य किस भाँति सम्भव हो सकता है ?

'उद्देश्य' शब्द को उचित रीति से केवल वहीं काम में लाया जा सकता है, जहाँ व्यापार बुद्धि और चेतना द्वारा नियन्त्रित होता है। इसलिये इस विश्व का उद्देश्य तभी संगत रीति का कहा जायगा, जब इसका रचयिता बुद्धियुक्त सत्ता हो और प्रायः इस चेतन सत्ता को ईश्वरवादी 'ईश्वर' संज्ञा देते आये हैं। परन्तु, यदि ईश्वर न हो, तो विश्व के उद्देश्य की चर्चा ही सम्भव नहीं हो सकती है। इस विश्व के नक्षत्रों, उत्तुंग पर्वतों, निर्झरों आदि को भी देखकर इन्हें कला-चित्र नहीं कहा जा सकता है; क्योंकि छद्म रूप में यहाँ भी अनन्त कलाकार की वास्तविकता को मानकर ही विश्व को चित्रकला कहा

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

जा सकता है; क्योंकि विना चित्रकार की भावना के चित्रकला का होना सम्भव नहीं कहा जा सकता है। तब एक दूसरे अर्थ में भी विश्व-उद्देश्य की बात उठायी जा सकती है। मान लिया जाय कि विश्व ईश्वर-विहीन सृष्टिकर्त्ता से परे एक स्वतन्त्र तथा स्वायत्त सत्ता है। इस सम्पूर्ण विश्व के अनेक अंग हैं और मानव भी इस विश्व का एक अंग है। क्या हम पूछ नहीं सकते हैं कि मानव का इस विशाल विश्व में क्या स्थान अथवा कार्य (Function) है? इस 'कार्य' के रूप में भी मानव-जीवन का उद्देश्य न्यायसंगत रीति से नहीं पूछा जा सकता है; क्योंकि 'सम्पूर्ण विश्व' अनुभवातीत होने के कारण ज्ञान-परिधि से बाहर है और इसलिये इस विश्व में मानव का स्थान निर्धारित करना निरर्थक प्रयास है। तब हम मानव-जीवन को ही आधार मानकर सम्पूर्ण विश्व के उद्देश्य को निर्धारित कर सकते हैं। पर, यह भी सुझाव न्यायसंगत रीति से लाभप्रद नहीं सिद्ध हो सकता है। इसका कारण है कि मानव इस विश्व का अतिलघु अंश है और फिर अंश से सम्पूर्ण नहीं जाना जाता है, बल्कि पूर्ण को ही जानकर अंश के कार्य को निर्धारित किया जाता है। अतः, न तो विश्व का और न मानव-जीवन का न्यायसंगत रूप में कोई उद्देश्य बताया जा सकता है। इसलिये, शुद्ध ऐहिकतावाद में मानव-जीवन को 'वेतुका' (Absurd) कहा गया है और इस रूप में ऐहिकतावादी साहित्य-रचना में वेतुका रंगमंच को प्रोत्साहित किया जा रहा है। कबतक मानव सुध-बुध खोकर जीवन की निरुद्देश्यता को वहन कर सकेगा, यह अभी भविष्य के गर्भ में है। परन्तु, ऐहिकतावाद ईश्वरवाद से व्युत्पन्न होकर निरीश्वरवाद को उग्र रूप में स्थापित करता है, यह उल्लेखनीय घटना है।

प्राग्वैज्ञानिक युग में, बीमारी, महामारी, सूखा, बाढ़, युद्ध, विप्लव आदि में पाश्चात्य ईसाई ईश्वर की दुहाई देता था। शायद जीवन का ऐसा कोई क्षेत्र नहीं था, जहाँ पारलौकिक ईश्वर का हाथ नहीं अनुभूत होता था। शिक्षा प्रायः पादरियों के द्वारा सम्पन्न होती थी और सभी बड़े अस्पताल सन्तों के नाम पर खोले गये थे। युद्धों में ईसाई पादरियों की माँग हुआ करती थी। खेती-गृहस्थी में ईश्वर का आशीर्वाद प्रार्थनाओं द्वारा प्राप्त होता था। परन्तु, धीरे-धीरे तकनीकी के प्रचार और प्रसार के साथ ईश्वर को मानव के सभी क्षेत्रों से निर्वासित कर दिया गया है। पाश्चात्य देशों में शिक्षा पूर्णतया ऐहिक हो गीय है। स्कूलों में अब धार्मिक शिक्षा नहीं दी जाती है। इसी

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

प्रकार, अस्पतालों में शल्य-कौशल तथा औषधि-ज्ञान को ही अपनाया जाता है, न कि प्रार्थना को। सूखा, बाढ़, युद्ध इत्यादि में तकनीकी को अधिक-से-अधिक प्रोत्साहन दिया जाता है। बीसवीं शताब्दी में दो महासमर ईसाई देशों में हुए। सभी राष्ट्रों ने एक ही ईश्वर को विजय की दुहाई दी। भला! ईश्वर किसकी सुनेगा ? फिर, युद्ध के फलस्वरूप इतनी क्षति पहुँची, इतनी स्त्रियाँ विधवा बनीं, इतनी अधिक मातायें निःसन्तान हो गयीं, इतने अधिक व्यक्तियों की अकालमृत्यु हुई, इतने अधिक धन का नाश हुआ, इतनी अधिक बर्बरता देखने में आयी और अनुजीवित घायलों को इतना अधिक मनोदैहिक कष्ट पहुँचा कि ईसाइयों को अपने प्रेमी ईश्वर में अविश्वास हो गया है। तकनीकी की विजय हुई और ईश्वर की हार। पादरी बॉनहोयफर को प्रतीत हुआ कि मानव अब वयस्क हो गया है। वह बिना ईश्वर के रह सकता है। शायद मृत्युभय अन्तिम स्थिति थी, जिसमें मानव ईश्वर की आवश्यकता अनुभूत करता था, परन्तु बॉनहोयफर ने देखा कि लाखों यहूदियों को गैस-घरों में ठूँस दिया गया है और समरों में जवानों ने मृत्यु को इतनी नजदीकी से देखा है कि मानव को अब मृत्यु-भय भी ईश्वर के समीप नहीं ला सकता है। इसलिये, बॉनहोयफर ने नात्सियों की गोली के शिकार होने के कुछ ही पूर्व लिखा है कि मानव को अब ईश्वर की आवश्यकता नहीं है; क्योंकि मानव अब सभी स्थितियों में अपनी समस्याओं को बिना ईश्वर की दुहाई दिये हुए अपनी शक्तियों के द्वारा उन समस्याओं के समाधान करने में अपने को समर्थ और सक्षम पाता है। इसलिये, तकनीकी के प्रसार से पाश्चात्य देशों में मानव-जीवन के लिये ईश्वर अनावश्यक हो गया है।

फिर, विज्ञान-प्रसार ने पाश्चात्य लोगों को स्पष्ट कर दिया है कि कोई भी क्षेत्र ऐसा नहीं है, जहाँ विज्ञान से प्राकृतिक घटनाओं पर अधिकार नहीं किया जा सकता है। बेकन ने लिखा था कि ज्ञान ही शक्ति है और यही अन्तिम एवं स्थायी कार्यशक्ति है। इस बात को आज पाश्चात्य देशों में स्वीकार कर लिया गया है। जो विज्ञान से नहीं प्राप्त किया जा सकता है, उसे अन्यत्र कहीं भी नहीं प्राप्त किया जा सकता है। इसलिये, ईश्वर से प्रार्थना के आधार पर कुछ भी नहीं प्राप्त किया जा सकता है, सभी प्राकृतिक घटनाओं की व्याख्या केवल प्राकृतिक कारणों के आधार पर की जा सकती है। आश्चर्य-कर्म को अनर्गल समझा जायगा; क्योंकि

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

धर्म में विना स्वतन्त्र प्रमाण के माना जाता है कि प्रार्थना करने पर तथा अन्यथा भी ईश्वर प्राकृतिक नियमों के विरुद्ध भी घटनाओं को उत्पन्न करता है : प्रत्युत कुँवारी से पुत्र नहीं उत्पन्न होता, मृत फिर नहीं जी उठ सकते हैं, दो रोटी और कुछ मछलियों से गाँव-भर को भोजन नहीं दिया जा सकता है इत्यादि। इस प्रकार, विज्ञान के प्रसार ने ईश्वर की कार्यवाही और उसके द्वारा सम्पादित आश्चर्य-कर्मों को अन्धविश्वास कहकर पाश्चात्य लोगों के लिये ईश्वर को असम्भव सिद्ध कर दिया है।

पुनः, पाश्चात्य लोगों को विज्ञान में ऐसी आस्था हो गयी है कि उन्हें विज्ञान-विरुद्ध बातों में विश्वास होना असम्भव हो गया है। ईसा के एक चेले ने कहा था कि जबतक मैं पुनर्जीवित ईसा को छू-टटोलकर सिद्ध न कर लूँ कि वह वही ईसा है, जिसे क्रूश पर छेदा गया था, तबतक मैं उसके जी उठने को नहीं स्वीकार कर सकता हूँ। थोमा की इस अनुभववादी कसौटी को विज्ञान ने स्वीकार किया है। विज्ञान में उसी को प्राश्रय दिया जाता है, जिसे इन्द्रियानुभव से प्राप्त किया जाता है। ईश्वर इन्द्रियातीत है, इसलिये ईश्वर को अब विश्वास का विषय नहीं समझा जाता है।

अतः, ऐहिकतावाद के प्रचार से ईश्वर मानव-जीवन से ओझल हो गया है, उसका अस्तित्व अनर्गल हो गया है। ईश्वर मानव-जीवन के लिये अनावश्यक हो गया है। कला, साहित्य, कविता, उद्योग, शिक्षा, चिकित्सा आदि से ईश्वर लुप्त हो गया है। इसे 'ईश्वर का सांस्कृतिक निधन' कहते हैं। जिस प्रकार पाश्चात्य देशों से यूनानी तथा रूमी देवी-देवता लुप्त हो गये हैं, उसी प्रकार पाश्चात्य लोगों के लिये ईश्वर असम्भव, अनर्गल और सम्पूर्णतया अनावश्यक हो गया है। क्या इस पाश्चात्य निरीश्वरवाद तथा निरुद्देश्यता के अवसर पर भारतीय निरीश्वरवाद आध्यात्मिक सन्देश को संरक्षित रख सकता है? अब हम भारतीय निरीश्वरवाद की समकालीन समीचीनता को निर्धारित करेंगे।

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

अध्याय ६

भारतीय निरीश्वरवाद की समकालीन समीचीनता

समकालीन चुनौती : भारत ने भी समाजवाद को अपना लिया है और शायद ही कोई प्रमुख राजनीतिक पार्टी बची है, जिसने शोषणहीन, वर्गहीन राज्य को अपना घोषणा-पत्र का लक्ष्य नहीं बनाया है। परन्तु, इस समाजवाद के उत्स में नवजागरण (रिनेसन्स) को प्रमुख कारण माना जाता है और तकनीकी तथा औद्योगिकीकरण को गौण कारण समझा जाता है। आठवें अध्याय में तकनीकी को ही ऐहिकतावाद के विकास में प्रमुख स्थान दिया गया है। मेरी समझ में इन दोनों कारणों में कोई विरोध नहीं है। बहुधा जीवन-शैली में परिवर्त्तन आ जाने से युग की विचारधारा में भी परिवर्त्तन आ जाता है और फिर, विचारधारा में क्रान्ति आ जाने से जीवन-शैली भी बदल जाती है। नवजागरण के परिणाम-स्वरूप विज्ञान का विकास हुआ और विज्ञान-विकास के साथ तकनीकी और औद्योगिकीकरण हुआ। औद्योगिकीकरण के फलस्वरूप अन्त में शोषणहीन समाजवाद की विचारधारा प्रचारित एवं विश्व-विस्तारित हुई है। परन्तु, समकालीन समाजवाद, ऐहिकतावाद तथा निरी-श्वरवाद के आधार में विज्ञान की प्रमुखता और विज्ञान के प्रति लोगों की आस्था ही है। क्या विज्ञान की चुनौती को भारतीय निरीश्वरवाद स्वीकार कर सकता है? विज्ञान को अपनाने का अभिप्राय होता है, कि वैज्ञानिक विधि, निष्कर्ष तथा विचारधारा को मान्यता दी जाय और साथ-ही-साथ अनुभववादी दर्शन को विचार की कसौटी मान लिया जाय। यह ठीक है कि वैज्ञानिक विचारधारा के सामने ईश्वर ओझल, विसंगत, असम्भव तथा मनोवैज्ञानिक एवं सांस्कृतिक दृष्टि में अनर्गल होता जा रहा है। पर, क्या भारतीय निरीश्वरवाद समकालीन विचारधारा से मेल खा सकता है? यह ठीक है कि भारतीय निरीश्वरवाद भौतिकतावाद नहीं है। परन्तु, यह ऐहिकतावाद भी नहीं है। भारतीय निरीश्वरवाद में आध्यात्मिकता, पारलौकिकता है और बौद्ध-दर्शन को छोड़ कर अन्य दर्शनों में तत्त्वमीमांसा भी पायी जाती है। फिर, सभी प्रकार के

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

भारतीय निरीश्वरवाद में असांसारिकता, मूक अनुभूति तथा रहस्यानुभूति को स्थान दिया गया है। क्या भारतीय निरीश्वरवाद समकालीन समाजवाद तथा ऐहिकतावाद से मेल खा सकता है ? पुनः, यदि मान लिया जाय, कि दोनों विचारधारायें परस्पर-विरोधी हैं, तो क्या इन्हें मानव-जीवन के दो अन्तिम छोर मानकर किसी प्रकार का समन्वयात्मक जीवन-दर्शन हो सकता है ? भारतीय निरीश्वरवाद तथा समकालीन विचारधारा के सन्दर्भ में निम्नलिखित विषय-विन्दुओं पर विचार-विमर्श अभिवांछित प्रतीत होता है :

१. आध्यात्मिकता :

पाश्चात्य दर्शन और प्राच्य विचार में आध्यात्मिकता के विषय में मौलिक मतभेद है। प्राच्य विचार में आत्मा को 'मन' से पृथक् माना गया है। 'मन' को कई भारतीय दर्शनों में आन्तरिक इन्द्रिय कहा गया है। इस रूप में मन को अन्य इन्द्रियों के समान शारीरिक माना गया है, परन्तु मन से परे और स्वतन्त्र दूसरी सत्ता को स्वीकारा गया है और इसे 'आत्मा' की संज्ञा दी गयी है। इस रूप में आत्मा को अनानुभविक (Non-empirical) तथा तत्त्वमीमांसीय सत्ता कहा जायगा। पाश्चात्य विचार की मूल धारा प्लेटो से निकलती है और प्लेटो का दर्शन भी प्राच्य मतों से प्रभावित कहा जाता है। प्लेटो के दर्शन में भी आत्मा को सरल, नित्य तथा शाश्वत सत्ता कहा गया है। बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ तक पाश्चात्य विचार में 'आत्मा' को नित्य और शाश्वत माना गया है। परन्तु, विज्ञानाश्रित अनुभववाद से प्रभावित होकर उसी सत्ता को तथ्य (Fact) समझा जाता है, जिसे इन्द्रियानुभव के द्वारा सत्यापित-मिथ्यापित किया जाय। परन्तु, परिभाषया आत्मा इन्द्रियातीत है। इसलिये, समकालीन विचारधारा में तत्त्वमीमांसीय आत्मा को दार्शनिक गोष्ठी का विषय नहीं स्वीकारा जाता है। इसके विपरीत भारतीय विचार के अन्तर्गत आत्मा को अनानुभविक तथा इन्द्रियातीत स्वीकार किया जाता है कि कठिन प्रयास के फलस्वरूप ऐसी इन्द्रियातीत अनुभूति होती है, जिसमें इस अमर आत्मा का परिज्ञान होता है। चूँकि, आत्मा इन्द्रियातीत है, इसलिये आध्यात्मिकता की प्राप्ति के निमित्त इन्द्रिय-संवेदनाओं से मुक्त होना चाहिये। चूँकि, तृष्णा-वेदना, भाव-संवेग आदि शरीर से उत्पन्न होते हैं, अतएव आत्मा की प्राप्ति के लिये मोह, क्रोध, आदि सभी भावों से जीव को मुक्त होना चाहिये। फिर,

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

चूँकि शरीर-भावना में ही अहंभाव केन्द्रित रहता है, इसलिये, अहं-मन्यता से मुक्त हो जाने पर ही शुद्ध आत्मा का अनुभव हो सकता है। इसलिये, आध्यात्मिकता वह है, जो सम्पूर्ण अहंमन्यता, संकल्प, तृष्णा आदि से विमुक्ति-रूप में पायी जाती है। अतः, आध्यात्मिकता वह है, जिसमें सम्पूर्ण विचारों की रिक्ति प्राप्त होती है। इन्द्रियानुभव से आत्मा का ज्ञान प्राप्त होने के बदले अज्ञान से प्रच्छन्न हो जाता है। उद्देश्यपूर्ण व्यापार से आध्यात्मिकता नहीं प्राप्त हो सकती; क्योंकि इसमें दृढ संकल्प और अहं-मन्यता का हाथ रहता है और शुद्ध आत्मा मन और अहंभाव से परे, स्वतन्त्र और अतीत पायी जाती है। वैशेषिक दर्शन में तो आत्मा में चैतन्य को भी नहीं स्वीकार किया गया है। अतः, एक रूप में आध्यात्मिकता वह है, जिसमें न इन्द्रियानुभव हो, न अहंभाव हो ('न किञ्चित् क्रोऽस्म्यहं' का भाव, अर्थात् निष्काम कर्म), न किसी भी विषय-विशेष की चेतना हो। पाश्चात्य विचार के अनुसार, इस स्थिति को शून्य कहा गया है और बौद्ध दर्शन में भी इसे 'शून्य' संज्ञा दी गयी है। परन्तु, भारतीय विचार में इसे भावात्मक स्थिति कहा गया है, जिसमें पूर्ण शान्ति तथा उपेक्षाभाव प्राप्त होता है। यह दशा कोई काल्पनिक रचना नहीं है। यह वह स्थिति है, जिसे योगियों तथा ध्यानियों की आवृत्तीय दशा कहा जा सकता है। मेरी समझ में यह उपेक्षाभाव पूर्णतया मनोवैज्ञानिक स्थिति है, जिसे कोई भी अनुभूत कर सकता है। परन्तु, इस रूप में भारतीय दर्शन में मोक्षावस्था तथा निर्वाण को नहीं स्वीकारा गया है। भारतीय विचार में आध्यात्मिकता की चरम स्थिति को या तो अनिर्वचनीय कहा गया है या तत्त्वमीम सात्मक माना गया है। तो, इसकी व्याख्या किस प्रकार से अनुभववादी परम्परा में की जा सकती है?

जैन, सांख्य, योग, न्याय आदि दर्शनों में माना गया है कि अज्ञान के कारण अमर आत्मायें शरीर धारण कर सुख-दुःख भोग करती हैं। सच्चे ज्ञान (अर्थात्, दिव्य दृष्टि) के प्राप्त कर लेने पर जीव का अज्ञान दूर हो जाता है और उसमें निहित आत्मा अपना शुद्ध रूप धारण कर लेती है। शुद्ध आत्मा अशरीरी होती, मन आदि इन्द्रियों से मुक्त होकर बुद्ध रूप में रहती है। दूसरे शब्दों में, जीव की आत्मा अमर तत्त्व है, जिसका कभी विलयन नहीं होता है। ह्यूम से गिलवर्ट राइल तक अनुभववादी कहते आ रहे हैं कि शारीरिक चेतना, जिसे अहंभाव कहते हैं, अन्तर्निरीक्षण से अवश्य जानी जाती है। परन्तु, अनुभूत अहंभाव मानसिक प्रक्रियाओं के प्रवाह की

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

शृंखला-मात्र है। किसी भी प्रकार की स्थायी, नित्य आत्मा अन्तर्निरीक्षण तथा अन्य प्रकार की अनुभूति में नहीं परिज्ञात होती है। अतः, शारीरिक चेतना के अतिरिक्त स्थायी आत्मा की कल्पना अनानुभविक है और इसका अस्तित्व अनुभूति के आधार पर सिद्ध नहीं किया जा सकता है।

जो बात जैन, सांख्य, न्याय आदि दर्शनों में वर्णित तात्त्विक आत्मा की आलोचना में कही गयी है, वही आलोचना अद्वैत वेदान्त के ब्रह्मविचार के सम्बन्ध में की जा सकती है। शुद्ध ब्रह्म सभी विचार और शब्दों से परे और अतीत है। इसके विषय में हम इतना ही भर कह सकते हैं कि यह जीव नहीं, देवता नहीं, पत्थर नहीं है इत्यादि। इसके भावात्मक पक्ष को अचिन्त्य कहा जायगा। ब्रह्म सभी वैज्ञानिक ज्ञान, प्रातिभासिक एवं व्यावहारिक सत्ता से परे और पूर्व है। ब्रह्म की सत्ता भी अनानुभविक रहने के कारण अनुभववादी परम्परा के अनुकूल नहीं मानी जायगी। मूल प्रश्न है :

क्या समकालीन भारतीय विचारधारा में विज्ञान को छोड़ा जा सकता है ?

मेरी समझ में भारत में कोई राजनीतिक पार्टी ऐसी नहीं है, जो विज्ञान को छोड़ने का साहस करती है। देश के उत्थान, बहुजनसुखाय एवं बहुजनहिताय, सांस्कृतिक पिछड़ेपन के विनाश इत्यादि अभीष्ट उद्देश्यों की पूर्त्ति विज्ञाना-धृत तकनीकी द्वारा सम्भव हो सकती है। महाविद्यालयों में विज्ञान के अध्यापन पर अधिक बल दिया जा रहा है। अब भारत में नलकूपों, खाद, उन्नत बीजों, सघन खेती आदि के द्वारा हरी क्रान्ति साकार हो चुकी है। इसलिये, भारत के अधिकांश विचारकों को विज्ञान के प्रति आस्था हो गयी है। परन्तु, जहाँ विज्ञान को हम भारतीय जीवन का प्रमुख आदर्श स्वीकार करेंगे, हमें विज्ञानजनित विचारधाराओं को भी अपनाना होगा। इसलिये, अनुभववादी दर्शन विज्ञान का ही चिन्तन-पक्ष है। यह नहीं हो सकता है कि हम विज्ञान की तकनीकी और उसके औद्योगिकीकरण के व्यावहारिक पक्ष को अपना लें और उसके दार्शनिक और सैद्धान्तिक पक्षों की अवहेलना कर दें। परन्तु, यदि भारतीयों की समीचीन वस्तु समझकर इस युगदर्शन में हम विज्ञान को स्वीकार कर लें और फिर, विज्ञान पर आधृत और विज्ञान से निस्सृत अनुभववाद को भी स्वीकार कर लें, तो भारतीय

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

निरीश्वरवाद की आध्यात्मिक परम्परा के साथ समकालीन अनुभववाद का मेल होना कठिन मालूम देता है।

(क) सर्वप्रथम, किसी भी प्रकार के तत्त्व-विचार को असंगत माना जायगा; क्योंकि तत्त्व वह है, जो सभी परिवर्त्तनों, आभासों इत्यादि से परे होता है। यही कारण है कि भारत के प्रमुख दर्शन सांख्य में बताया जाता है कि जीव की आत्मा प्रकृति से एकदम पृथक् और भिन्न है। जीवों को जो कुछ भी मनोवैज्ञानिक अनुभव होता है, वह उसको उसकी आत्मा का अनुभव नहीं होता है। जीव अज्ञानवश शरीर से तादात्म्य स्थापित कर सुख-दुःख, वासना-तृष्णा आदि का शिकार हो जाता है। यही बात थोड़े-बहुत अन्तर के साथ न्याय-वैशेषिक तथा अद्वैत वेदान्त में कही जाती है। उदाहरणार्थ, शांकर वेदान्त में कहा जाता है कि आत्मा अन्नमय, प्राणमय, वेदनामय, मनोमय, अर्थात् सभी प्रकार की मनोदैहिक अनुभूति से परे है। परन्तु, इसके विपरीत समकालीन अनुभववादी दृष्टि से किसी भी प्रकार के अननुभूत तत्त्व को मान्यता नहीं दी जा सकती है। इस रूप में न तो अमर आत्मा को, न ब्रह्म को और न तात्त्विक रूप में निर्वाण को दार्शनिक स्तर पर अपनाया जा सकता है।

(ख) निरीश्वरवादी आध्यात्मिकता में बताया जाता है कि सभी बन्धनकारी कार्यों के मूल में अहंभाव है। इसी अहंभाव के विलयन से, ममत्व के विनाश से अज्ञान दूर हो जाता है और जीव अपनी शुद्ध आत्मा को अनुभूत करने लगता है। अहंमन्यता-विनाश के सन्दर्भ में दो प्रकार के मत स्पष्ट किये गये हैं :

अ. अहंमन्यता-विनाश से अभिप्राय होता है कि जीवों की स्वार्थलोलुपता, संकीर्णता तथा आत्मनिष्ठता का लोप हो जाता है और जीवों की अनुभूति का संशोधन, शिक्षण तथा विस्तारण इतना हो जाता है कि सभी प्राणियों को इसके अन्तर्गत लाया जाता है। अहंमन्यता-विनाश का इस प्रकार का स्पष्टीकरण विशेषकर बौद्धों के ब्रह्म-विहार या अपारमित-सिद्धान्त के अनुकूल मालूम देता है। परन्तु, अहंमन्यता-विनाश को मानसिक प्रक्रियाओं

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

का परिशोधन तथा विस्तारण नहीं कहा जा सकता है। जहाँ-तक ये अनुभूत प्रक्रियायें होंगी (उदाहरणार्थ : विश्व-कल्याण हेतु मैत्री, करुणा, मुदिता तथा उपेक्षा), उतनी दूर तक ये अनुभूत होंगी, न कि अननुभूत अनुभूति। भारतीय विचारक आध्यात्मिकता को समीचीन तथा समकालीन विचारधारा के अनुरूप बनाने के लिये अहंमन्यता-विनाश की अनुभववादी व्याख्या करते हैं। परन्तु, वे भूल जाते हैं कि आत्मप्राप्ति सभी प्रकार की मनोवैज्ञानिक प्रक्रियाओं से अतीत अनुभूति है और इस अतीत अनुभूति को अनुभूत नहीं बनाया जा सकता है। परन्तु, यदि अहंमन्यता-विनाश को अहंभाव का विस्तारण भी माना जाय, तो भी इससे काम नहीं चलेगा; क्योंकि आध्यात्मिकता के लिये अहंभाव का उन्मूलन, इसका सम्पूर्ण विनाश आवश्यक है। इसलिये, अहंभाव-विनाश को अहंभाव का परिशोधन तथा विस्तारण नहीं कहा जायगा।

आ. अतः, अहंभाव-विनाश का सच्चा अर्थ होगा, अहंभाव का सम्पूर्ण उच्छेदन। क्या देहधारी जीव के लिये, चाहे वह जीवन्मुक्त भी क्यों न हो जाय, अहंभाव का सम्पूर्ण विनाश सम्भव है ?

(ग) इसमें सन्देह नहीं कि शिशु-काल के प्रारम्भ में अहंभाव नहीं पाया जाता है। परन्तु, धीरे-धीरे आंगिक प्रक्रियाओं को केन्द्र बनाकर परिस्थिति के प्रति सफल अभियोजन-कार्य के परिणाम-स्वरूप अहंभाव की रचना होती है। यही कारण है कि बहुधा व्यक्ति अपने शरीर को ही अपना अहं समझता है। चूँकि, अहंभाव का सम्बन्ध शारीरिक अंगों की क्रियाओं से विशेष रूप में होता है और फिर, अहंभाव की रचना परिस्थिति के प्रति अभियोजन के निमित्त होती है और चूँकि, शरीर और वाह्य परिस्थिति को अज्ञानाधृत भ्रम समझा जाता है, इसलिये, भारतीय अध्यात्मवाद में अहंभाव के विनाश पर बल दिया जाता है। परन्तु, परिस्थिति के प्रति अभियोजन-कार्य में संकल्प की आवश्यकता होती और संकल्प का केन्द्र उस अहंभाव से उत्पन्न होता है, जिसे व्यक्ति अपना आदर्श-रूप समझता है। उदाहरणार्थ, यदि

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

व्यक्ति अपने आदर्श रूप को राष्ट्रसेवी समझता है, तो वह दृढ संकल्प करता है कि वह अपने राष्ट्र को सभी विघटनकारी शक्तियों से मोर्चा लेकर इसके एकत्व को बनाये रखेगा और वे सभी योजनायें, जिनसे उसका राष्ट्र सबल और ठोस बनता है, उनमें वह अपना पूर्ण सहयोग देगा। कर्मठ व्यक्ति वे ही हैं, जो अपने आदर्श-रूप में अपने अहंभाव के अनुसार संकल्पात्मक व्यापारों में जूझ पड़ते हैं। जब ऐसे कर्मठ व्यक्ति को संघर्षों में रहना पड़ता है तथा उसे कठिन निर्णय लेना पड़ता है, तब वह बराबर अपने आदर्श रूप का आह्वान करता है। क्या मैं राष्ट्रसेवी कहलानेवाला जेल जाने के भय से विघटनकारी शक्तियों के विरुद्ध आन्दोलन न करूँ? क्या मैं अकाल, सूखा, बाढ़ आदि परिस्थितियों को रचकर श्रमयोजना से लाभ उठानेवाले असामाजिक तत्त्वों से मोर्चा न लूं? बिना दृढ़ संकल्प के राजनीतिक आन्दोलन, समाज-सुधार तथा किसी भी आदर्श के प्रति प्रयत्नशील आत्मनिवेदित कार्य सम्भव नहीं है और बिना अहंभाव के दृढ संकल्प सम्भव नहीं है। तो क्या अहंभाव के समूल उच्छेदन से समाज-सुधार, राजनीतिक क्रान्ति, राष्ट्र-निर्माण इत्यादि सम्भव है? मेरी समझ में भारतीय निरीश्वरवादी आध्यात्मिकता के अनुसार संगत रूप से हमें स्वीकारना होगा कि जीवन्मुक्त के द्वारा न तो समाज-सुधार हो सकता है और न किसी भी प्रकार की राजनीतिक क्रान्ति सम्पन्न की जा सकती है। परन्तु, कुछ प्रमुख भारतीय विचारक ऐसे हैं कि वे सोचते हैं, 'निष्काम कर्म' के अन्तर्गत समाज-सुधार तथा राजनीतिक क्रान्ति सम्भव हो सकती है। मुझे इस सन्दर्भ में भारी मतभेद है।

कुछ भारतीय विचारक 'निष्काम कर्म' से कान्त-निर्दिष्ट कर्त्तव्यता का अभिप्राय समझते हैं। ऐसा मान लेने से निष्काम कर्म के प्रति वे ही आपत्तियाँ लागू होंगी, जो कान्त के शुद्ध कर्त्तव्यता-सिद्धान्त के प्रति लागू की गयी हैं, अर्थात्, हमें निर्धारित करना चाहिये कि वह कौन कर्म है, जिसे 'निष्काम' संज्ञा देनी चाहिये। क्या समाज-सुधार को निष्काम कहा जा सकता है? क्या सांस्कृतिक रूप से पिछड़े वर्गों को, शोषित समाज को उन्नत करने के

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

उद्देश्य से क्रान्ति-कर्मों को 'निष्काम' कहा जा सकता है ? यदि कर्मों के फल की इच्छा नहीं रखी जाय, तो व्यापक समाजोन्मुखी कर्मों को प्रायोजनायुक्त नहीं बनाया जा सकता है, (अर्थात्, ऐसे कार्य, जिन्हें सम्पादित करने में आनुक्रमिक साधनों को ध्यान में रखा जाता है)। परन्तु, निष्काम कर्म का शब्दशः अर्थ होता है वह कर्म, जिसमें कोई कामना, वासना, अर्थात् मनोवैज्ञानिक प्रेरणा न हो। इस रूप में निष्काम कर्म से तात्पर्य होगा कि वह कर्म जिसमें किसी भी प्रकार की मनोवैज्ञानिक प्रेरणा न हो। चूँकि, अन्तिम रूप में मनोवैज्ञानिक प्रेरणा भौतिक-रासायनिक (Physico-Chemical) परिवर्त्तन-मात्र को ही कहा जायगा, इसलिये निष्काम कर्म का अर्थ होगा कि वह कर्म, जो जागतिक तत्त्वों से मुक्त हो। इस रूप में 'निष्काम कर्म' को निरीश्वरवादी आध्यात्मिकता के अनुरूप ही समझा जायगा। परन्तु, इस रूप में 'निष्काम कर्म' को संसार-विरक्ति कहा जायगा, न कि समाज-सुधार-समर्थक कर्म।

इसलिये, भारतीय निरीश्वरवाद में निहित अहंभाव के उन्मूलन-सिद्धान्त को समकालीन समाज-सुधार तथा राजनीतिक क्रान्ति के उपयुक्त नहीं माना जायगा।

२. असांसारिकता :

यह ठीक है कि बौद्ध दर्शन अन्य भारतीय दर्शनों की अपेक्षा कम तत्त्व-मीमांसात्मक समस्याओं को स्थान देता है। तो भी, बौद्ध दर्शन को भी अनुभववादी दृष्टि से तत्त्वमीमांसा से रिक्त नहीं समझना चाहिये। केवल आत्मा, परमात्मा, परम सत्ता आदि को अस्वीकार करने से ही दर्शन को तत्त्वमीमांसा से रिक्त नहीं समझना चाहिये। जब भी किसी भी दर्शन में अनुभव से परे तत्त्वों को तथा किसी भी विषय की नित्यता को स्वीकार किया जायगा, तब तत्त्व-मीमांसा की रचना का भय हो जाता है। जहाँतक अपने अनुभववाद के स्तर पर बुद्ध भगवान् ने ईश्वर, आत्मा, अणु इत्यादि की नित्यता नहीं स्वीकार की, वहाँतक इनकी विचारधारा को अनुभववादी दर्शन के अनुरूप माना जायगा। परन्तु, कोई भी विचारक युगदर्शन की छाया में ही अपने दर्शन को स्थिर करता है और उसके क्रान्तिकारी दर्शन में भी युगदर्शन की छाप रह जाती है। बुद्ध भगवान् भी इस नियम के अपवाद नहीं हैं। सभी वस्तुयें नश्वर हैं, सभी वस्तुयें, जो उत्पन्न होती हैं, उनका अन्त भी होता है। बुद्ध-वचन में भी यही बात लागू होती है। बुद्ध भगवान् के धर्म-विचार में अज्ञान, कर्म, संसार और मोक्ष के

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

चार सिद्धान्त निहित हैं। क्या ये अनुभव-सिद्ध हैं ? मेरी समझ में अज्ञान, कर्म और संसार अनुभव-सिद्ध नहीं हैं और न इन्हें ऐसा मानना आवश्यक है। ये बौद्ध-दर्शन की पूर्व-मान्यतायें हैं और अनुभववादी दर्शन में इन्हें पूर्वानुभविक तत्त्व कहा जायगा। परन्तु, इनका प्रामाण्य मोक्ष-प्राप्ति के आधार पर स्थापित समझा जायगा। क्या मोक्ष को नित्य तत्त्व माना जाय ? यह गूढ प्रश्न है। बौद्ध दर्शन में निर्वाण को विभिन्न रूप में माना गया है, परन्तु निर्वाण की अनात्मवादी व्याख्या प्रमुख रूप में देखी जाती है। इसके विपरीत शांकर अद्वैतवाद तथा अन्य पारलौकिकतावादी भारतीय दर्शन में मोक्ष को ब्रह्मस्थिति तथा प्रत्येक आत्मा की अनन्त चैतन्यपूर्ण शाश्वत दशा अथवा अन्य तात्त्विक रूप माना गया है। समकालीन अनुभववादी परम्परा के अनुसार किसी भी विषय के किसी भी तत्त्व को नित्य नहीं स्वीकार किया जा सकता है; क्योंकि 'नित्यता' अनुभवातीत प्रत्यय है। इसलिये, यदि मोक्ष को आत्मा की नित्य स्थिति माना जाय, तो इसे अनुभववादी परम्परा में नहीं स्वीकार किया जायगा। परन्तु, हमें स्मरण रखना चाहिये कि मोक्ष-सिद्धान्त आकाश से प्रकाशना के रूप में नहीं प्रस्तुत किया गया है। इसका ठोस आधार ध्यान, समाधि तथा योग की अनुभूति के रूप में पाया जाता है। अब, ठोस अनुभूति को ही विशेष मान्यता देनी चाहिये और इसके आधार पर पूर्व-मान्यता अथवा पूर्वानुभविक तत्त्व को भी आँका जाता है। वास्तव में निर्वाण-स्थिति, जो ध्यानों के परिणाम-स्वरूप अनुभूत होती है, को किस प्रकार वर्णित किया गया ?

बौद्धदर्शन विशाल है और इसका साहित्य अति विस्तृत है। कतिपय उद्धरणों को लेकर किसी भी मत की पुष्टि करना अनधिकार प्रयास कहा जायगा। तो भी नमूने के तौर पर एकाध उद्धरणों के भाव को यहाँ दिखाया जा सकता है। परिव्राजक वत्सगोत्र घूमता हुआ बुद्ध भगवान् के पास पहुँचा और उनसे पूछा :

वत्सगोत्र : भदन्त गोतम ! क्या परमात्मा का अस्तित्व है ?

बुद्ध भगवान् : मौन धारण किये रहे।

वत्सगोत्र : क्या किसी प्रकार की भी आत्मा का अस्तित्व नहीं है ?

बुद्ध भगवान् पूर्ववत् मौन रहे। वत्सगोत्र चला गया। इसके बाद बुद्ध भगवान् के प्रिय अनुयायी आनन्द ने पूछा—'भगवन् ! आपने वत्सगोत्र के प्रश्नों का उत्तर क्यों नहीं दिया ?'

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

बुद्ध भगवान् ने उत्तर दिया : यदि मैं कहता कि परमात्मा है, तो यह उत्तर ब्राह्मणों के शाश्वतवाद की पुष्टि करता है, और यदि मैं कहता कि किसी भी प्रकार की आत्मा का अस्तित्व नहीं, तो इस उत्तर से उच्छेदवाद का समर्थन होता। परन्तु, मैं जानता हूँ कि अनात्म है, तो मैं कैसे कहता कि परमात्मा है ? इसके विपरीत यदि मैं कहता कि आत्मा नहीं है, तो इससे उलझन पैदा होने का भय हो सकता है। क्योंकि, यदि आत्मा नहीं है, तो यहाँ प्रश्न होता है, क्या निर्वाणगति के पूर्व मुझमें आत्मा नहीं थी ? क्या अब वह आत्मा (निर्वाण-प्राप्ति के बाद) नहीं है इत्यादि ?

बौद्धधर्म के साहित्य के अध्ययन से ऐसा प्रतीत होता है कि अनात्मा को यद्यपि बौद्ध धर्मदर्शन का स्तम्भ स्वीकार किया गया है, तथापि इसमें परमात्मा तथा आत्मा के अस्तित्व को वर्णित किया गया है। इससे क्या अर्थ लगाया जा सकता है ? यहाँ परमात्मा से निर्वाणप्राप्त जीव की और आत्मा से जिज्ञासु अथवा मुमुक्षु जीव की ध्वनि होती है। अतः, बौद्ध धर्मदर्शन में किसी भी प्रकार की आत्मा को नित्य नहीं माना गया है। पर, क्या तथागत, अर्थात् निर्वाणप्राप्त जीव को नित्य मान लिया जाय ?

वत्सगोत्र ने निर्वाणप्राप्त भिक्षु के विषय में पूछा : क्या निर्वाणप्राप्त भिक्षु फिर कहीं उत्पन्न होता है ?

उत्तर : उत्पन्न होना निर्वाणप्राप्त के विषय में असंगत प्रत्यय है, तो क्या अनुत्पन्न होना निर्वाणप्राप्त के विषय में प्रयुक्त हो सकता है ?

उत्तर : अनुत्पन्न होना भी निर्वाणप्राप्त के लिये अनुपयुक्त प्रत्यय है। तो क्या उत्पन्न होना और नहीं उत्पन्न होना दोनों निर्वाण-प्राप्त भिक्षु के लिये सम्भव होता है ?

उत्तर : उत्पन्न होना और नहीं उत्पन्न होना, दोनों निर्वाणगत में नहीं लागू होता है।

तब निर्वाणगत न तो उत्पन्न होता है और न अनुत्पन्न होता है ?

उत्तर : न उत्पन्न होना और न अनुत्पन्न होना, दोनों ही निर्वाणगत के लिये लागू नहीं होता है।

वत्सगोत्र ने इसपर कहा, तब तो मैं बड़ी उलझन में पड़ जाता हूँ कि वास्तव में निर्वाणगति है क्या। बुद्ध भगवान् ने कहा कि बात

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

ऐसी ही कुछ दिखती है। परन्तु, मेरे प्रश्नों का उत्तर देने पर निर्वाणगति के स्वरूप पर प्रकाश पड़ सकता है।

यदि सामने आग जलती रहे, तो क्या इसे जाना जा सकता है ?

वत्स : जी हाँ !

यदि पूछा जाय कि आग कैसे जारी है, तो क्या इसका उत्तर दिया जा सकता है ?

वत्स : हाँ, सूखी घास और ईन्धन के जलाने से आग जारी है। यदि आग बुझ जाय, तो इसके बुझने को जाना जा सकता है ?

वत्स : जी हाँ !

क्या कोई बता सकता है कि बुझी आग पूरब, पच्छिम, दक्षिण या उत्तर की ओर गयी है ?

वत्स : नहीं ! क्योंकि ईन्धन इत्यादि समाप्त हो जाने पर सामग्रियों के अभाव में यह आग समाप्त हो जाती है।

बुद्ध भगवान् ने कहा कि ठीक इसी प्रकार वेदना, तृष्णा, मोह, मद, क्रोध, विज्ञान आदि के लय हो जाने पर निर्वाण प्राप्त हो जाता और निर्वाणगति के स्वरूप के सम्बन्ध में प्रश्न ही प्रसंगहीन हो जाता है कि निर्वाणगत भिक्षु कहाँ चला गया, कहाँ उसका आवास है इत्यादि।

पहले ही कहा जा चुका है कि निर्वाण को अभावात्मक नहीं कहा गया है और फिर निर्वाणगत भिक्षु के सम्बन्ध में किसी भी तत्त्वमीमांसात्मक समस्या को नहीं उठाया जा सकता है। ऐसी अवस्था में निर्वाणगति को केवल मनोवैज्ञानिक स्थिति स्वीकार किया जा सकता है। ध्यान के फलस्वरूप तथा शील-प्रज्ञा से उत्पन्न यह वह उपेक्षाभाव की स्थिति है, जिसे शान्त कहा जा सकता है। क्षणिकत्व तथा अनात्मवाद के पाठ सीख लेने पर मृत्यु-भय तक निर्वाणगत को विचलित नहीं कर सकता है। यह वह स्थिति है, जिसमें न शारीरिक वासनायें रहतीं और न जीने की ही इच्छा रहती है। वस्तुओं की न आकांक्षा रहती है और न इनके प्रति किसी भी प्रकार का प्रयत्न। यह है असंज्ञा। परन्तु, निर्वाणगत भिक्षु को अपने उपेक्षाभाव तथा विस्तारित चेतना का भाव रहता है। यह है संज्ञा। यह दशा जीवन की पूर्ण स्थिरता की दशा है। ऐसी मनोवैज्ञानिक स्थिति की प्राप्ति दुर्लभ है। परन्तु, जिसे न

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

कामिनी, न कंचन, न यश-अपयश, न स्वर्ग और न नरक विचलित कर सकता है, वह मानव नहीं। वह देवता, अथवा देवता से भी परे कल्पनातीत जीव हो जाता है। बुद्ध भगवान् ने इस प्रकार की मनोवैज्ञानिक स्थिति को प्राप्त करने का आदेश दिया है। उनके लिये निर्वाणगत भिक्षु के मरणोत्तर जीवन के विषय में किसी भी अनुभवातीत प्रश्न को पूछना व्यर्थ है; क्योंकि न तो मरणोत्तर जीवन के सम्बन्ध में प्रश्नों का उत्तर दिया जा सकता है और न ही इस प्रकार के प्रश्नों की उलझन में पड़ने से निर्वाणगति की प्राप्ति में अड़चन के सिवा लाभ हो सकता है।

मेरी समझ में जैन, शांकर वेदान्त तथा मोक्ष-दर्शनों में मोक्षावस्था अनुभूत मनोवैज्ञानिक तथ्य है। परन्तु, इस मनोवैज्ञानिक स्थिरता से तात्त्विक निष्कर्ष स्थापित करना तथा इससे अपने-अपने दर्शनों की विशिष्ट मान्यताओं की पुष्टि स्वीकार करना न्यायसंगत नहीं कहा जायगा। बिना अज्ञान, कर्म तथा आवागमन के सिद्धान्त को स्वीकार किये हुए शील, समाधि तथा प्रज्ञा का प्रयोग कर निर्वाण-गति को तथा शांकर मोक्षगति को प्राप्त किया जा सकता है। फिर, बिना तात्त्विक समस्याभासों (Pseudo-problems) को उठाये हुए मोक्षगति को मनोवैज्ञानिक स्तर पर स्पष्ट किया जा सकता है। अनेक पाश्चात्य मनोवैज्ञानिकों ने योग-साधना का अध्ययन किया है और उनके अनुसार समाधि एक मनोवैज्ञानिक विधि है, जिसका अनुसरण करने से व्यक्ति अपने जीवन को स्थिर बना सकता है।

इसमें सन्देह नहीं कि निर्वाण तथा मोक्ष मानव की उत्कृष्ट उपलब्धि है और यदि इसे आनन्द-भाव की पराकाष्ठा कहें, तो इसमें अत्युक्ति नहीं होगी। फिर, इसे मूल्यपूर्ण भी कहा जायगा; क्योंकि व्यक्ति इस निर्वाण-गति में मानसिक स्वास्थ्य और आदर्श जीवन की अनुभूति प्राप्त करते हैं। परन्तु, क्या इस निर्वाणगति को समकालीन आदर्श जीवन के अनुकूल माना जायगा? इसी भारत ने, जहाँ लेखक इस पुस्तक को लिख रहा है, वहाँ के विचारकों ने योग, समाधि और ध्यान को चरमशिखा पर पहुँचा दिया था। परन्तु, क्या कोई बुद्ध और महावीर भगवान् बनना चाहता है? मेरी समझ में कोई महात्मा गान्धी भी नहीं बनना चाहता है, महावीर और बुद्ध भगवान् की बात कौन कहे। सरदार वल्लभ भाई पटेल तक की अनुशासनप्रियता और राष्ट्रप्रियता के आदर्श को भी नहीं अपनाना चाहता है। हमारा आदर्श बदल

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

गया है। हम बिना देश-सेवा किये राष्ट्रनेता बनना चाहते हैं; पार्टी के लिये बिना त्याग किये हुए अपने को पार्टी से ऊँचा समझते हैं। परन्तु, इसे तो भ्रष्ट-युगी भ्रष्टादर्श कहा जायगा। यदि इसकी चर्चा न भी की जाय, तो भी प्रश्न होता है, क्या निर्वाणगति में निहित असांसारिकता, जगत्-पराङ्मुखता को समकालीन समाजवाद के अनुरूप माना जा सकता है? उत्तर स्पष्ट है। नहीं; क्योंकि विज्ञान की दृष्टि में जगत् मानव के लिये एकमात्र यथार्थता है और इसे भ्रम कहकर ठुकराया नहीं जा सकता है। फिर, जगत् से विमुख होकर विरक्तिभाव से लाभ नहीं उठाया जा सकता है। ऐहिकता के प्रचार-प्रसार तथा विस्तार से ही जन-जीवन को सुखी बनाया जा सकता है। इस स्थल पर निर्वाण एवं जीवन्मुक्ति और ऐहिकता एवं समाजवाद के बीच सीधा संघर्ष देखने में आता है।

यह अनुभूत निष्कर्ष है कि जीवन की समस्त घटनायें परिवर्त्तनशील हैं और कोई भी ऐसी अनुभूत सत्ता नहीं है, जो नश्वर न हो। परन्तु, इससे यह निष्कर्ष नहीं निकलता है कि सभी वस्तुयें क्षणिक हैं। वस्तुयें कुछ समय के लिये रहती हैं और उनके प्रति व्यक्ति यथोचित रीति से अनुक्रियाशील रहता है। स्वयं बुद्ध भगवान् ने दिखाया है कि आत्मा नित्य नहीं है, परन्तु नामरूप से निर्मित स्कन्ध जन्म-जन्मान्तरों तक बने रहते हैं। जबतक घटनाओं का रूपीकरण बना रहेगा, तबतक हम अमुक वस्तु को उस रूपी-करण के अनुसार उसको एक ही संज्ञा देते रहेंगे। इस रूप में टेबुल-कुर्सी, गया, नालन्दा, हिमालय आदि अपने-अपने निजी नाम से पुकारे जायेंगे। इसी बात को रसेल ने अपने अणु-दर्शन में तार्किक रूप से व्यक्तिवाचक नाम (Logically Proper Name) के प्रसंग में कहा है। रसेल के अनुसार तार्किक रूप से व्यक्तिवाचक नाम कुछ क्षणों तक अवश्य जारी रहता है, उदाहरणार्थ, 'यह लाल'। अतः, अनुभववादी, वस्तुओं को नश्वर मानकर क्षणिक नहीं समझते। फिर, अनुभववादी के लिये सभी वस्तुयें कालिक हुआ करती हैं। काल से परे 'नित्य' की कल्पना करना अनुभूत वास्तविकता से कोसों दूर भागना कहलायगा। अतः, मानव स्वयं कालिक जीव है; वह अपने जीवन का उद्देश्य स्वयं निर्माण करता है और इस रूप में वह अपना निर्माता और अपना दीप है। इसलिये, नित्यता का आदर्श ही भ्रामक है। यदि निर्वाण और मोक्षगति (वेदान्त, सांख्य आदि दर्शन का अन्तिम आदर्श)

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

के बीच मिलान किया जाय और यदि इनकी मनोवैज्ञानिकता पर ध्यान दिया जाय, तो बौद्ध निर्वाणगति को शांकर मोक्षगति की तुलना में अनुभववादी परम्परा के अधिक समीप माना जायगा। इसका कारण है कि बुद्ध भगवान् ने निर्वाण की तत्त्वमीमांसात्मक व्याख्या नहीं की है। परन्तु, शंकर ने मोक्ष-गति की तत्त्वमीमांसात्मक व्याख्या की है।

इस सन्दर्भ में भारतीय संस्कृति के अनेक उपासक बताते हैं कि तकनीकी-औद्योगिकीकरण तथा विज्ञान के अन्य साधन से पाश्चात्य देशों को केवल भौतिक वस्तुओं का, तथा शारीरिक भोग-विलास की सामग्रियों का लाभ होता है। पाश्चात्य देशों की अपेक्षा भारतीय विचार में अधिक आध्यात्मिक मूल्यों को प्रमुख स्थान दिया गया है। ऐसे भारतीय विचारक हमें बताते हैं कि पाश्चात्य भौतिकवाद से चकाचौंध होकर सहस्र वर्षों की अर्जित परम्परा को त्यागना विचार-शून्यता का उदाहरण होगा।

मैं समझता हूँ कि इस आपत्ति में कुछ सचाई है और अधिक व्यर्थ का दम्भ है। सचाई यह है कि समाधि-ध्यान की मनोवैज्ञानिक विधि अब भी मानव को जीवन में स्थिरता प्रदान कर सकती है। यह बात बाद में स्पष्ट की जायगी। परन्तु, मेरी समझ में ऐहिकतावाद को भौतिकवाद नहीं समझना चाहिये और फिर समाजवाद को भी केवल भौतिक सामग्रियों के उत्पादन-वण्टन की राजनीतिक व्यवस्था नहीं समझना चाहिये। हमलोगों ने देखा है कि समकालीन ऐहिकतावाद के पोषक ईसाई विचारक और पादरी हैं। इनके अनुसार, ईसाई धर्म का चरम निःश्रेयस् है कि मानव-सेवा को मानव का अत्यन्त पुनीत कर्त्तव्य समझा जाय। क्या मानव-सेवा में आत्मनिवेदन, आत्मत्याग और आत्मबलि को शारीरिक भोग-विलास कहा जाय? क्या इसे भौतिकवाद कहकर इससे टकराने के डर से कतराकर निकल भागा जाय? ऐहिकतावाद तथा मानवतावाद भी मानव का धर्म बन गया है और इसे अपशब्द कहकर इससे पिण्ड नहीं छुड़ाया जा सकता है। परन्तु, सच्ची बात यह है कि शरीर और संसार को यथोचित स्थान नहीं प्रदान करने के कारण भारतीयों का एकांगी विकास हुआ। जितने अधिक त्यागी, ऋषि-मुनि और धर्मविचारक इस भारतभूमि में उत्पन्न हुए हैं, शायद उतने अधिक किसी भी देश में नहीं उत्पन्न हुए हैं। परन्तु, जहाँ एक महात्मा होता है, उसकी अपेक्षा अनेक अशिक्षित, असभ्य और अनैतिक व्यक्ति पाये

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

जाते हैं। चाहिये यह था कि प्रत्येक महात्मा अपने देशवासियों को सभ्य बनाता, राजनीतिक कुचक्रों से होड़ लेता, सामाजिक अन्याय के प्रति आन्दोलन करता इत्यादि। परन्तु, चूंकि संसार, समाज तथा शरीर को ही भ्रम मान लिया गया, इसलिये इसके सुधार की बात ही कहाँ उठ सकती थी? परन्तु, समाजवाद में मान लिया जाता है कि मानव मनोदैहिक नश्वर स्कन्ध है। क्रम से इसके इस नश्वर स्कन्ध को यथासम्भव पूर्ण बनाया जाय। समाजवादी देशों में नवजात शिशु की शिक्षा उसके जन्मकाल से ही प्रारम्भ हो जाती है और निःशुल्क और अनिवार्य शिक्षा १८ वर्ष तक प्रत्येक नागरिक को दी जाती है। इस आयु तक उसे नाचना-गाना, खेलना-कूदना, चित्रकला आदि की भी शिक्षा दी जाती है। जिस व्यक्ति में जो भी प्रतिभा होती है, उसे प्रस्फुटित करने का पूर्ण अवसर दिया जाता है। अतः, समाजवादी देशों के नागरिकों का सर्वपटी विकास होता है। श्रम के बाद मनोरंजन की इतनी अधिक व्यवस्था है कि समाजवादी देशों में प्रत्येक व्यक्ति अपनी अभिरुचि और झुकाव के अनुरूप अपने अवकाश को काम में लाता है। इस प्रकार, उसकी शिक्षा आजीवन होती रहती है। उसके हृदय में संसार के अन्य उपेक्षित देशों के प्रति सेवा-भाव बना रहता है। ऐसे समाजवादी देशों को भौतिकवादी तथा वासनाभोगी कहकर अपने को सभ्य कहने का नारा भरना सर्वथा अनुचित और वास्तविकता-विरुद्ध है। तो भी, समाजवादी विचारकों से जब मैं हंगरी में मिला, तब तो मुझे आभासित हुआ कि इस समाजवाद में अपनी अनेक खामियाँ हैं।

समाजवाद की खामियाँ :

१. ऐतिहासिक उत्स के विचार से स्पष्ट है कि समाजवाद की स्थापना द्वन्द्वात्मक भौतिकतावाद की भित्ति पर हुई है। यह ठीक है कि द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद कोरा भौतिकवाद नहीं है। कोरे भौतिकवाद की तुलना में द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद में मानव-चेतना और उसके आदर्श को मानव-इतिहास में प्रभावकारी माना गया है। द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद का इतना ही भर कहना है कि उच्च स्तर का विकास और उसकी अवस्थिति निम्नतर तत्त्वों पर निर्भर करती है। इसलिये, उच्चतर आदर्श तथा विचारधारा भौतिक तथा आर्थिक तत्त्वों पर निर्भर करती है। तो भी चूंकि उच्चतर

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

विचार की अपेक्षा निम्नतर अंशों को अधिक प्रमुखता देने के कारण मानव के अहंभाव को ठेस पहुँचती है और इसलिये अनेक विचारकों के लिये द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद मनोवैज्ञानिक तथा सांस्कृतिक शिक्षण के कारण लोकप्रिय नहीं सिद्ध हुआ है। चूँकि, द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद ग्राह्य नहीं होता है, इसलिये उसपर आधृत समाजवाद भी लोगों को स्वीकार्य नहीं रहता है।

फिर, हमें भूल नहीं जाना चाहिये कि द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद कितना ही अपने को 'वैज्ञानिक' क्यों न कहे, परन्तु किसी भी प्रकार की तत्त्वमीमांसा को वैज्ञानिक नहीं कहा जा सकता है। इसमें व्यवहृत 'द्वन्द्वात्मक' शब्द भ्रामक है। मार्क्स ने 'द्वन्द्वात्मक' शब्द को हेगेल के दर्शन से प्राप्त किया था और हेगेल ने समझा था कि तथ्य और विचार में कोई अन्तर नहीं, बल्कि तथ्य अन्त में विचारमात्र है और चूँकि विचार तार्किक नियमों पर आधृत होता है, इसलिये तदनुरूप वास्तविक घटनायें भी तार्किक त्रय-नियम से संचालित होंगी। इसलिये ऐतिहासिक घटनायें भी त्रिपदी वादों से होकर तार्किक नियमों के अनुसरण के समान अनिवार्यतः संघटित होंगी। परन्तु, अब भी मार्क्सवादी इस बात को स्वीकार नहीं करते हैं कि तार्किक अनिवार्यता शब्दों के संगत व्यवहार से उत्पन्न होती है और तार्किक अनिवार्यता तथ्यात्मक घटनाओं में कभी नहीं पायी जाती है। ऐतिहासिक प्रवाह-चक्र को तार्किक त्रिपदी अवस्था मानने में भाषा-दोष चला आता है। यहाँ विश्लेषात्मक (तार्किक) अनिवार्यता को हम संश्लेषात्मक और संश्लेषात्मक सम्भाविता को हम विश्लेषात्मक अनिवार्यता समझते हैं। परन्तु, ऐतिहासिक घटना-चक्र को कभी तार्किक रूप में नहीं समझना चाहिये। यही कारण है कि दार्शनिक विश्लेषण के आधार पर द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद को वाग्जाल कहकर अस्वीकृत किया जाता है।

वास्तव में, 'भौतिक' शब्द भी भ्रामक हैं; क्योंकि 'भौतिक' अनुभूति-योग्य तत्त्वों को ही कहा जाता है। इस समय न तो विज्ञान में और न दर्शन में किसी भी तत्त्व को परम सत्ता कहा जाता है और न अन्तिम तत्त्व को अनुभवग्राह्य ही कहा जा सकता है। अन्तिम रूप में 'शक्ति' ही परम प्रत्यय है। परन्तु, यह किसी सत्ता का नाम नहीं है। यह केवल व्यापारात्मक प्रत्यय है। हम जानते हैं कि विभिन्न प्रकार की शक्तियों से किस प्रकार के कार्य सम्पादित किये जा सकते हैं, परन्तु इनके स्वरूप की न तो कोई चर्चा होती है और न इसे संज्ञान का विषय माना जाता है।

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

इन सब कारणों से द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद के अस्वीकार्य हो जाने पर उस पर आधृत समाजवाद भी लोगों को ग्राह्य नहीं हो पाता है।

२. फिर, समाजवाद के इतिहास से यह भी स्पष्ट है कि समाजवाद की स्थापना परम्परागत ईसाई धर्म के साथ संघर्ष के बाद ही हुई है। इसलिये, धर्म और समाजवाद का झगड़ा अनावश्यक रूप से अब भी छिड़ा है। यह ठीक है कि पारलौकिकतावादी धर्म और ऐहिकतावादी समाजवाद के बीच सैद्धान्तिक मतभेद रहा है। परन्तु, धर्मों के साथ सीधी मुठभेड़ कर देने से प्रतिक्रियावाद का उग्र रूप धारण करना स्वाभाविक है। संघर्ष के फलस्वरूप समाजवादी ने धर्म को कुचलने का प्रयास किया और ईसाई धर्म ने भी समाजवाद का विरोध किया है। अब भी पूर्वीय यूरोपीय समाजवादी देशों में इस संघर्ष को असाक्षात् रीति से जारी रखा गया है। इस समय पूर्वीय यूरोपीय देशों में यहूदी, ईसाई और इस्लाम इत्यादि विभिन्न धर्मों को छूट दी गयी है। यहाँतक कि इन धर्मों के पुजारियों को समाजवादी राष्ट्र से वेतन भी मिलता है। परन्तु, इन धर्मों को यह छूट नहीं है कि वे धर्मों का अध्यापन स्कूलों में करें। इक्के-दुक्के धार्मिक कॉलेजों को छोड़कर केवल साम्यवाद तथा द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद को ही सभी स्कूलों में अनिवार्य शिक्षा के रूप में रखा गया है। परन्तु, ऐसा क्यों पक्षपात किया जाय ? यदि साम्यवाद बुद्धिसंगत है और अन्य धर्म विज्ञानसंगत नहीं हैं, तो क्यों नहीं लोगों को अवसर दिया जाय कि वे धर्मों की पारलौकिकता को व्यर्थ समझकर समाजवाद को अपने हृदय और बुद्धि के द्वारा ग्रहण करें ? चूँकि, परम्परागत धर्मों के शिक्षण को बन्द करके द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद की शिक्षा दी जा रही है, इससे लोगों को प्रतीत होता है कि द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद वास्तव में बुद्धि और विज्ञान-संगत नहीं है और इसलिये इसे राजनीतिक मतप्रचार के हेतु स्कूलों में अनिवार्य शिक्षा के रूप में रखा गया है। इसका परिणाम यह हुआ है, कि पूर्वीय समाजवादी देशों में धार्मिकों की संख्या में २७ वर्ष के बाद भी कमी नहीं हुई है। समाजवाद को धर्म के प्रति प्रतिक्रियावादी रूप में प्रस्तुत करके समाजवाद को मनोवैज्ञानिक स्तर पर लोगों के लिये अस्वीकार्य कर दिया गया है। समाजवादी यह नहीं समझते हैं कि

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

स्वयं द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद न तो विज्ञान है और न यह विज्ञानाधृत अनुभववाद से मेल खाता है। साम्यवाद की विशिष्टता भौतिकवाद पर नहीं, वरन् ऐहिकतावाद पर आधृत है। आज सीधा संघर्ष ऐहिकतावाद और धर्मों के बीच है। पाश्चात्य ईसाई देशों में परम्परागत ईश्वरवाद का विलयन ऐहिकतावाद के प्रचार, प्रसार एवं विस्तार के परिणामस्वरूप हो रहा है, न कि भौतिकवाद तथा साम्यवाद के नाम पर। फिर, साम्यवाद की भी लोकप्रियता इसके ऐहिकतावादी प्रोग्राम अथवा प्रायोजनाओं से सिद्ध होती है। इसलिये यदि समाजवाद को भारत में लोकप्रिय बनाना है, तो इसे ऐहिकतावाद पर, न कि भौतिकवाद पर आधृत करना होगा। ऐहिकतावाद सुबोध और सरल है और व्यावहारिक रूप में इसे सब समझ सकते हैं। इसकी तुलना में भौतिकवाद दुरूह तत्त्वमीमांसा है। उदाहरणार्थ, सन् १९६७ ई० के अकाल में लोगों ने अखण्ड कीर्त्तन तथा अन्य धार्मिक अनुष्ठानों का प्राश्रय लिया था। परन्तु, सुखाड़ पड़ने पर इस समय (सन् १९७२ ई०) लोग खाद, उन्नत बीज, नलकूप आदि वैज्ञानिक साधनों को अपना रहे हैं। यहाँ अनायास धार्मिक अनुष्ठान के स्थान पर ऐहिकतावाद चला आया है। अतः, अनावश्यक रूप से समाजवाद को भौतिकवाद पर आधृत कर और धर्मों का विरोध कर समाजवाद को लोगों में अप्रिय कर दिया गया है।

३. समाजवाद की उपर्युक्त खामियाँ ऐतिहासिक आकस्मिकतायें हैं, जो भारत में परिहार्य हो सकती हैं। परन्तु, धर्म और समाजवाद में कुछ मौलिक अन्तर है और धर्म की अपनी ऐसी मौलिकता है कि समाजवाद के वर्त्तमानकालिक स्वरूप की अपेक्षा धर्म मानव को कहीं अधिक हृदयस्पर्शी प्रतीत होता है। कम-से-कम भारतीय निरीश्वरवाद के अध्ययन से स्पष्ट हो जाता है कि धर्म मानव की आन्तरिक स्थिति है, जिसे अन्तरात्मा की पुकार भी कहा जाता है। भारतीय निरीश्वरवादी अध्यात्मवाद में मानव आत्मविजय करता है और पूर्ण शान्ति अथवा स्थिरता का अनुभव करता है। भारतीयों का युग-युग से मानव के लिये यह चिरकालीन प्रश्न है :

कोऽहं, कस्त्वम्, कुत आयातः ?

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

इन प्रश्नों का उत्तर उन्हें निर्वाण तथा मोक्षगति को प्राप्त करके मिल जाता है। शायद ही कोई ऐसा भारतीय होगा, जो इस अमर शान्ति के आदर्श को ठुकरा दे। यह निर्वाणगति मनोवैज्ञानिक तथ्य है और मानव की अनुपम निधि है। परन्तु, इस रूप में न तो समाजवाद और न ऐहिकतावाद ही लोकप्रिय हो सकता है। इसका कारण है।

ऐहिकतावाद में व्यक्ति की सम्पूर्ण शक्तियों का बाह्यीकरण होता है। उसे अपने समाज और लोकहित के निमित्त सोच-विचार तथा सभी प्रकार का कौशल सम्पादन करना होता है। व्यक्ति लोकहित तथा समाज के प्रति इतना तल्लीन हो जाता है कि वह अपनी अन्तरात्मा तथा गहराई से विमुख हो जाता है। जो कुछ भी सामाजिक कार्य व्यक्ति को समर्पित किया जाता है, वह बाह्यारोपित होता है। इस रूप में समाजवादी व्यक्ति अपनी गहराई से विमुख रहकर ही लोक-कार्य में निरत रह सकता है। परन्तु, यदि ऐसा समाजवादी व्यक्ति सम्पूर्णतया सफल भी हो जाय, तो भी क्या वह नहीं पूछेगा ?

कोऽहं, कस्त्वम्, कुत आयातः ?

यदि, समाजवादी व्यक्ति अपने 'अहं' को नहीं जानेगा, तो वह कैसे किसी भी सामाजिक आदर्श को अपना कहकर उसके प्रति आत्मनिवेदित होगा ?

निष्कर्ष :

अतः, धर्मों में आन्तरीकरण है और आत्मलाभ का सन्देश पाया जाता है और इसलिये धर्मपरायणता से आत्मसन्तोष उत्पन्न होता है। इसकी तुलना में समाजवादी एवं ऐहिकतावादी व्यक्ति में बाह्यीकरण होता है। ऐहिकतावादी लोकहित को संवर्द्धित करता है, परन्तु उसमें आत्मसन्तोष की मात्रा कम होगी। ऐसी अवस्था में जब भारतीय निरीश्वरवाद में और ऐहिकतावाद में परस्पर विरोध हो, तब दो सम्भव विकल्प हो सकते हैं।

(क) सम्भव है, कि समाजवादी लोकहित को अपनी अन्तरात्मा की पुकार मानकर और सामाजिक आदर्श से आत्मसात् कर ऐहिक कार्यों में अपने ममत्व को (अथवा अहंभाव को) उसी प्रकार त्याग दें, जिस प्रकार समाधि, प्रज्ञा और शील के द्वारा एक बौद्ध भिक्षु अपने अहंभाव का विलोपन करता है। इस रूप में समाज-

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

वाद और परम्परागत धर्मों के बीच भेद दूर हो जायगा। स्वयं समाजवाद मानव का भावी धर्म हो जायगा। जॉन ड्यूवे ने इसी रूप में ऐहिकतावाद को अपनाया है।[1]

(ख) प्रायः, देखा गया है कि मानव दो छोरों के बीच झूलता रहता है। अस्तित्ववादी इन दो छोरों को सत् (Being) और असत् (Non-Being) कहते हैं। आत्मलाभ और लोक-कल्याण ये दो मानव के अन्त या छोर हैं। कभी मानव संसार से विमुख होकर अपने को जानने का प्रयास करता है और कभी वह अपने को बाह्य समाज तथा लोक-सेवा में खो बैठता है। शायद मानव के ये ऐसे दो छोर हैं, जिनमें से वह किसी का भी त्याग नहीं कर सकता है। सन्त पॉल, ईसा, शंकर, बुद्ध भगवान् इत्यादि पुरुषों में देखा गया है कि वे आत्मलाभ को अथवा ईश्वर-संगति को अपना निःश्रेयस् मानते थे, तो भी अपनी जीवन-चर्या को पूर्ण करने के लिये वे समाजसेवी, समाजसुधारक का भी काम करते रहे हैं। इसी प्रकार, महात्मा गान्धी समाजसेवी रहे हैं, तो भी अपने को अनुप्राणित करने के लिये वे ईश्वरोपासना करते थे। इसलिये सम्भव है कि भविष्य में मानव समकालीन युग-दर्शन के अनुसार ऐहिकतावाद को अपनायगा और फिर अपने व्यक्तिगत जीवन में शान्ति और स्थिरता-प्राप्ति हेतु वह समाधि, योग तथा ध्यान की शरण लेगा।

(ग) पहले विकल्प को पाश्चात्य निरीश्वरवादी अपना रहे हैं और वे ऐहिकतावाद को ही मानव का पवित्र निःश्रेयस् समझते हैं। दूसरे शब्दों में वे ऐहिकतावाद को मानव का भावी धर्म समझते हैं। दूसरे विकल्प को असाक्षात् रूप से पाश्चात्य देशों में लोग अपना रहे हैं। मानसिक सन्तोष को प्राप्त करने के लिये सांसारिक कार्यों में व्यस्त लोगों को सलाह दी जा रही कि वे ध्यान-योग इत्यादि का अभ्यास करें।

---

१. जॉन ड्यूवे 'ऐहिकतावाद' के स्थान पर 'मानवतावाद' को प्रयुक्त करते हैं। देखें 'A Common Faith'.

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

मेरी समझ में ऐहिकतावादी व्यक्ति समाज में अपने को पूर्णतया खाली नहीं कर सकता है। समाज-सेवा में दृढ संकल्प आवश्यक होता है और दृढ संकल्प बिना अहंभाव तथा आत्मविधान के सम्भव नहीं होता। आत्मविधान के रहने पर व्यक्ति के 'कोऽहं' के प्रश्न को भुलावे में नहीं डाला जा सकता है। इस 'कोऽहं' का उत्तर निर्वाणगति और मोक्षप्राप्ति में पाया जाता है। इस रूप में भारतीय निरीश्वरवादी आध्यात्मिकता मानव को शान्ति देने में समर्थ होगी। इसलिये, मेरी समझ में भारतीय निरीश्वरवादी आध्यात्मिकता प्राचीन-तम विचारधारा होते हुए भी आज पूर्णतः समीचीन है। महावीर, बुद्ध तथा शंकर का आह्वान प्राचीन होते हुए भी समकालीन है, सुदूर होते हुए भी सन्निकट है।

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

अनुक्रमणिका

अगस्टाइन २१४
अज्ञेयवाद १७
अभ्यास १३४
अनवस्था दोष १९८, १९९, २३९
अनिवार्य सत्ता १४, १५, २१२, २३५
अनुजीवन २३९
अन्सेलम २१०, २१५
अबेलार्ड, पिटर २१५
अभिकल्प, अभिकल्पात्मक १९३, १९४, २०२, २२३
अरविन्द १६६
अवच्छेदवाद १३५
अवयवी १९१
इष्टदेवता १५०
ईश्वर ११, १२, २१०—२१२
अशरीरी ६१, ६२, २०२, २०४, २०५
ईश्वरोपासना १५४, २६६
ईश्वर-दर्शन २१६
ईश्वर-निधन १८, १९, २१, २४६
ईश्वर-प्रणिधान ५१, ५२
ईसा १९
ईसा और ख्रीष्ट २२७, २२८
ईसा और ईश्वर २१३, २१४
ईसाई धर्म की मान्यता २०९, २१०, २१८
उपदेश-वाक्य १५९
एकत्ववाद ३५—३७
एकेश्वरवाद ३०, ३५
ऐयर, ए० जे० २००—२०१, २२६

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

ऐहिकतावाद २०, २१, २०९, २१०, २४०—२४४, २४७, २६०, २६५, २६६
कर्त्तृत्व-भाव १५२, १६३
कर्म १४४, १४५
    काम्य १४४
    नित्य १४४
    नैमित्तिक १४४
    निष्काम २९, १४५, १५३, १५४, २४९, २५३, २५४
कूटस्थ नित्य १२३, १७३
कीथ, ए० वी० २५, २९
गैलेलियो ६, २२०
घटाकाश १३५, १९७
तटस्थ ईश्वरवाद २२०, २२१
तुरीय अवस्था १४०
त्रित्व परमेश्वर २११
तीलिख़, पॉल १५, १६, १७
त्र्यणुक १८६, १९७
दाण्डेकर, आर० एन० २३, २४, २५, २७
दार्शनिक निरीश्वरवाद १३—१५, २२८—२४०
देकार्त्त ६
द्व्यणुक १८६, १९७
धर्म १, ३—५
    ईसाई ६
धर्म-मानव की पूर्वमान्यता १७, १८, १९५
नास्तिक ४०—४२
निमित्तकारण ४४, ६३, १८६, १८८, २०१, २०३, २०४
निरीश्वरवाद
    ईसाई २१४
    तत्त्वमीमांसात्मक १३, १५, १६
    दार्शनिक १३, १५, १६, २२८—२४०

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

९

सत्तामूलक २३५—२३७
सांस्कृतिक १८, २४५, २४६
न्यूटन ६, २२०
निर्गुण-सगुण १४७, १६६
टॉमस, सन्त १५, १७
टोलमी २१६, २२०
डार्विन, चार्ल्स ६, २२१—२२३, २२४
पंचकोष १३७, १३८, १४२
पंत्रमहाव्रत ८०, ८१
पंचावयव १८६—१६२
पंचावयवी प्रमाण १६०—१६२
पंचावयवी प्रमाण में दोष-निराकरण १६२—१६४
परिकर्मनिमित्त ११५
पारमार्थिक ज्ञान १४३
दृष्टि १५८, १५६
सत्ता ६५, १७०
पारलौकिकता ६५, २४७
पूरणकाश्यप ७३, ७४
प्रतिबिम्बवाद १२५
प्रतीक २५, १४८
प्रणवोपासना १६०, १६२
प्रवृत्ति-निवृत्ति-मार्ग २६-३०
प्रातिभासिक सत्ता १४१
फ्रॉयड, सिगमण्ड ३१, २२४, २२५
वेकन, फ्रांसिस २३०
वॉनहोयफर, दिद्रिख् १८, ८६, २२६, २४५
व्रह्मकुलाल १८५
व्लिक-सिद्धान्त ११२, १३६
भक्ति १४५
अर्थार्थी १५१
आर्त्त १५१

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

जिज्ञासु १५१
ज्ञानी १५१
साधन रूप में १५४, १५५, १६६
भक्ति-चरण १५२
भाषा-स्तर ७—१०
मक्खलि गोसाल ७३, ७४
मठाकाश १३५, १६७
महावाक्य १५८
मिल, जॉन स्टुअर्ट २३०
मिलिन्द-प्रश्न १०७
मुक्ति १६१—१६४
क्रममुक्ति १६२
जीवन्मुक्ति १६२—१६४
विदेह-मुक्ति १६२
सद्योमुक्ति १६२
मुमुक्षु १३३
मूर्त्तिपूजा ११, १७, १८, २१२
यन्त्रवाद ६, ४७, २१८
युंग १६७, १७०
रसेल, बर्ट्रेण्ड १५६, २००, २०१, २३६, २५९
रहस्यमय महान् १०
राइखेनबाख़ ७२
राधाकृष्ण १६५
लिंगशरीर १३८
लीला १३७, २०७
लोकसंग्रह २९
वरुण ३२, ३३
वर्णन-सिद्धान्त २३९
विकल्पेश्वरवाद ३६
विकासवाद २२१—२२४
वित्तगिन्स्ताइन २३६

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

९

वै
श
श्च
स

…१४६, २३८

…७, १४२, १६०
…म० १३६
…, २१६
…विड १६६, २००, २३१—२३३

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

96238

AUTHOR याकूब मसिह

TITLE निरीश्वरवाद

96238

R691
SAm
1973 A.D.

सरस्वती नसभगा मयस्कृत
महेन्द्र संस्कृत विश्वविद्यालय
MAHENDRA SANSKRIT UNIVERSITY 1986 AD

महेन्द्र संस्कृत विश्वविद्यालय
वाल्मीकि विद्यापीठ
पुस्तकालय

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

भारत सरकार के शत-प्रतिशत अनुदान से प्रकाशित

बिहार हिंदी ग्रंथ अकादमी के कतिपय महत्त्वपूर्ण प्रकाशन

१. समकालीन धर्म-दर्शन		१६.७५
डॉ० याकुब मसीह		
२. धर्म-दर्शन		५.००
सं० डॉ० सुखदेव सिंह शर्मा		
३. आधुनिक तर्कशास्त्र की भूमिका		१२.००
डॉ० संकठा प्रसाद सिंह		
४. महात्मा गांधी का दर्शन		६.००
डॉ० धीरेन्द्र मोहन दत्त		
५. नीतिशास्त्रीय सिद्धान्त के पांच प्रकार		६.३५
सी० डी० ब्रोड		
६. ज्ञानमीमांसा परिचय		७.००
ए० डी० वूज़ले		
७. भाषा, सत्य और तर्क—एक परिचर्चा		६.५०
सं० डॉ० याकुब मसीह		
८. मनोविज्ञान		३४.५०
सी० टी० मार्गन		
९. शिक्षा-मनोविज्ञान	छात्र सं०	८.२५
डॉ० कृष्ण कुमार जमुआर	पुस्त० सं०	१०.७५
१०. मनोविज्ञान की रूपरेखा		८.००
डॉ० कृष्ण कुमार जमुआर		
११. विश्व के महान शिक्षाशास्त्री		२८.५०
[illegible]वनाथ प्रसाद वर्मा		
१२. मुर्गीपालन		६.००
डॉ० अभय कुमार वर्मा		
१३. मुद्रण परिचय		६.५०
श्री प्रफुल्लचंद्र ओझा मुक्त		

विस्तृत सूची-पत्र की मांग करें।

निदेशक,
बिहार हिंदी ग्रंथ अकादमी
कदम कुआं, पटना-३

कवर मुद्रक : यतीन प्रेस, लंगरटोली, पटना-४

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

भारत सरकार के शत-प्रतिशत अनुदान से प्रकाशित

बिहार हिंदी ग्रंथ अकादमी के कतिपय महत्त्वपूर्ण प्रकाशन

१.	समकालीन धर्म-दर्शन डॉ० याकुब मसीह		१६.७५
२.	धर्म-दर्शन सं० डॉ० सुखदेव सिंह शर्मा		५.००
३.	आधुनिक तर्कशास्त्र की भूमिका डॉ० संकठा प्रसाद सिंह		१२.००
४.	महात्मा गांधी का दर्शन डॉ० धीरेन्द्र मोहन दत्त		६.००
५.	नीतिशास्त्रीय सिद्धान्त के पांच प्रकार सी० डी० ब्रोड		६.३५
६.	ज्ञानमीमांसा परिचय ए० डी० वूज़ले		७.००
७.	भाषा, सत्य और तर्क—एक परिचर्चा सं० डॉ० याकुब मसीह		६.५०
८.	मनोविज्ञान सी० टी० मार्गन		३४.५०
९.	शिक्षा-मनोविज्ञान डॉ० कृष्ण कुमार जमुआर	छात्र सं० पुस्त० सं०	८.२५ १०.७५
१०.	मनोविज्ञान की रूपरेखा डॉ० कृष्ण कुमार जमुआर		८.००
११.	विश्व के महान शिक्षाशास्त्री डॉ० वैद्यनाथ प्रसाद वर्मा		२८.५०
१२.	मुर्गीपालन डॉ० अभय कुमार वर्मा		६.००
१३.	मुद्रण परिचय श्री प्रफुल्लचंद्र ओझा मुक्त		६.५०

विस्तृत सूची-पत्र की मांग करें।

निदेशक,
बिहार हिंदी ग्रंथ अकादमी
कदम कुआं, पटना-३

कवर मुद्रक : यतीन प्रेस, लंगरटोली, पटना-४

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu